

हड़प्पा सभ्यता Harappa Civilization

1921 ई. में दयाराम साहनी द्वारा हड़प्पा की खोज ने भारत के इतिहास को 2000 वर्ष पीछे ढकेल दिया। इससे पूर्व भारत के इतिहास का प्रारंभ वैदिक काल से माना जाता था, किन्तु हड़प्पा सभ्यता की खोज ने भारत के इतिहास को मेसोपोटामिया, मिस्र तथा चीन के इतिहास के समान ही प्राचीन व गौरवशाली बना दिया।

□ हड़प्पा सभ्यता की खोज

हड़प्पा सभ्यता आद्य ऐतिहासिक काल से संबद्ध है। यह सभ्यता मिस्र एवं मेसोपोटामिया की सभ्यता के समकालीन थी। सर्वप्रथम 1826 ई. में चार्ल्स मैसन ने हड़प्पा नामक स्थान पर एक प्राचीन सभ्यता के दबे होने की बात लिखी थी तथा हड़प्पा के विशाल टीले की ओर संकेत किया था। यद्यपि 1853 ई. - 1856 ई. में अलेक्जेंडर कनिंघम ने यहां का अवलोकन किया था, परन्तु वे सही प्रकार से इस स्थल का महत्व नहीं समझ सके थे। आगे 1921 ई. एवं 1922 ई. में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग के तृतीय अध्यक्ष जॉन मार्शल के निर्देशन में हड़प्पा व मोहनजोदड़ो की खुदाई का कार्य क्रमशः दयाराम साहनी व राखालदास बेनर्जी द्वारा किया गया।

□ हड़प्पा सभ्यता का नामकरण

इस सभ्यता को सिन्धु घाटी सभ्यता नाम जॉन मार्शल ने दिया था। इस सभ्यता के अन्य प्रमुख नाम हड़प्पा सभ्यता, सिन्धु-सरस्वती सभ्यता, काँस्ययुगीन सभ्यता एवं प्रथम नगरीय सभ्यता हैं। इन सभी नामों में से सर्वाधिक उपयुक्त नाम हड़प्पा सभ्यता होना चाहिए, क्योंकि सबसे पहले हड़प्पा स्थल को ही खोजा गया था।

□ हड़प्पा सभ्यता का विस्तार

इस सभ्यता का क्षेत्रफल 12,99,600 वर्ग किमी तथा आकार त्रिभुजाकार था, जो पूर्व से पश्चिम 1600 किमी तथा उत्तर से दक्षिण 1400 किमी तक विस्तृत थी। इस सभ्यता का विस्तार उत्तर में चिनाब नदी के किनारे मांडा (कश्मीर), दक्षिण में गोदावरी नदी के किनारे दायमाबाद (महाराष्ट्र), पश्चिम में दास्क नदी के किनारे सुत्कागेंडोर (बलूचिस्तान) तथा पूरब में हिंडन नदी के किनारे आलमगीरपुर (उत्तर प्रदेश) तक था।

□ हड़प्पा सभ्यता के महत्वपूर्ण स्थल

अफगानिस्तान	- शोर्तुघई, मुण्डीगॉक।	जम्मू	- मांडा।
राजस्थान	- कालीबंगा।	उत्तर प्रदेश	- आलमगीरपुर।
हरियाणा	- बनावली, राखीगढ़ी।	पंजाब	- हड़प्पा, रोपड़।
बलूचिस्तान	- मेहरगढ़, सुत्कागेंडोर।	सिंध	- मोहनजोदड़ो, चान्हूदड़ो, आमरी, कोटदीची।
गुजरात	- देसलपुर, सुरकोटड़ा, धौलावीरा, लोथल, रंगपुर, रोजदी।		

□ हड़प्पा सभ्यता का काल निर्धारण

यद्यपि हड़प्पा सभ्यता के काल निर्धारण को लेकर विद्वानों में मतभेद हैं, किन्तु सर्वाधिक मान्य मत है कि सम्पूर्ण हड़प्पा सभ्यता का काल 3300 ई. पू. से 1750 ई. पू. तथा परिपक्व हड़प्पा सभ्यता का काल 2500 ई. पू. से 1750 ई. पू. तक रहा होगा।

□ हड़प्पा सभ्यता का नगर नियोजन

हड़प्पा सभ्यता की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता इसका नगर नियोजन थी। प्रत्येक नगर 2 भागों में विभक्त थे - पश्चिमी टीले (दुर्ग टीला) तथा पूर्वी टीले (आवास क्षेत्र)। पूर्वी टीले में सामान्य नागरिक, व्यापारी, कारीगर और श्रमिक आदि रहते थे, जबकि दुर्ग के अंदर महत्वपूर्ण प्रशासनिक एवं सार्वजनिक भवन तथा अन्नागार स्थित थे। प्रायः पश्चिमी टीला एक रक्षा प्राचीर से घिरा होता था, जबकि पूर्वी टीला नहीं। हालांकि चाहुंदड़ो में दुर्ग एवं निचला शहर दोनों को भी रक्षा प्राचीर से नहीं घेरा गया था।

इस सभ्यता के नगर शतरंज की विसात की तरह व्यवस्थित थे। नगर का मुख्य मार्ग उत्तर से दक्षिण तथा दूसरे मार्ग पूरब से पश्चिम परस्पर समकोण पर काटते थे। सड़कें प्रायः कच्ची होती थीं। नगरों में उत्तम जल प्रबंधन एवं साफ-सफाई पर विशेष ध्यान दिया जाता था। सड़कों के किनारे ग्रिड पद्धति पर नाली की व्यवस्था थी, जिसमें कुड़ा-करकट एकत्रित करने के लिए जगह-जगह ढक्कनयुक्त मेनहोल बने थे। इस सभ्यता के घरों के दरवाजे एवं खिडकियां प्रायः मुख्य सड़क की ओर न खुलकर गलियों की ओर खुलते थे।

इस सभ्यता के भवन प्रायः द्विमंजली होते थे। भवनों में प्रायः पक्की ईंटों का प्रयोग किया जाता था। ईंटों का आकार 4 : 2 : 1 था। स्तम्भ प्रायः वर्गाकार होते थे। फर्श प्रायः कच्चा होता था।

इस प्रकार हड़प्पा सभ्यता की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता उसका व्यवस्थित नगरीकरण था, जो वर्तमान भारत की स्मार्ट सिटी योजना के समक्ष आदर्श प्रस्तुत करता है।

□ हड़प्पा सभ्यता का उद्भव (Origin of Harappa Civilization)

1921 ई. से लेकर आज तक हड़प्पा सभ्यता के लगभग 1500 स्थलों की खोज हो चुकी है, किन्तु इतिहासकारों के मध्य आज भी इस सभ्यता के उद्भव का प्रश्न विवादास्पद बना हुआ है। इस विवाद के पीछे निम्नलिखित कारण हैं -

- 1) साहित्यिक स्रोतों की अनुपलब्धता तथा पुरातात्विक स्रोतों की अपर्याप्तता।
- 2) क्षेत्रीय खुदाई का अभाव।
- 3) अभी तक इस सभ्यता के जितने भी स्थलों की खोज हुई है, वे प्रायः अपनी विकसित अवस्था में थे। इस कारण इस सभ्यता के उद्भव के विषय में पर्याप्त साक्ष्य प्राप्त नहीं होते हैं।

हड़प्पा सभ्यता उद्भव के संबंध में इतिहासकारों ने जितने भी मत दिए हैं, उनमें प्रमुख हैं -

- 1) विदेशी/आकस्मिक/मेसोपोटामियाई/सुमेरियन उत्पत्ति का सिद्धांत।
- 2) आर्य उत्पत्ति का सिद्धांत।
- 3) देशी/क्रमिक उत्पत्ति का सिद्धांत।

♦ विदेशी/आकस्मिक/मेसोपोटामियाई/सुमेरियन उत्पत्ति का सिद्धांत

गार्डन चाइल्ड, मार्टिनर व्हीलर, क्रेमर, डी. डी. कौशाम्बी आदि इतिहासकार हड़प्पा सभ्यता के उद्भव में विदेशी प्रभाव को स्वीकार करते हैं। इस मत के समर्थकों के अनुसार मेसोपोटामिया सभ्यता, मिस्र सभ्यता तथा हड़प्पा सभ्यता के जनक एक ही मूल के लोग थे। चूंकि मेसोपोटामियाई सभ्यता, हड़प्पा सभ्यता से प्राचीन है। अतः मेसोपोटामिया से ही एक जन समूह मिस्र होते हुए भारत आया तथा यहां की परिस्थितियों के अनुरूप एक नवीन नगरीकृत सभ्यता की नींव डाली।

इस सिद्धांत के समर्थकों ने अपने मत के पक्ष में कुछ तर्क भी दिए हैं-

- 1) दोनों ही नगरीकृत सभ्यता थी।
- 2) दोनों ही सभ्यता के लोग ईंट, मुहर, चाकूनिर्मित मृदभांड, अन्नागार व लिपि का प्रयोग करते थे।
- 3) दोनों ही सभ्यता से प्राप्त गढ़ी में समान संरचना की शहतीर का प्रयोग किया जाता था।
- 4) बलुचिस्तान से प्राप्त टीलों की संरचना मेसोपोटामिया से प्राप्त जिगुएट (मंदिर) के समान थी, किन्तु सूक्ष्म अवलोकन के पश्चात् उपर्युक्त तर्कों की सीमाएं स्पष्ट हो जाती हैं, जिसे निम्नलिखित बिन्दुओं के अंतर्गत समझा जा सकता है -
 - a) दोनों ही सभ्यता के नगरीकरण में पर्याप्त अंतर था। हड़प्पा सभ्यता के नगर अधिक विकसित व व्यवस्थित थे।
 - b) हड़प्पा सभ्यता के भवनों में प्रायः पक्की ईंटों का, जबकि मेसोपोटामियाई सभ्यता के भवनों में प्रायः कच्ची ईंटों का प्रयोग किया गया था।
 - c) हड़प्पा सभ्यता में मुख्यतः वर्गाकार या आयताकार मुहरों का, जबकि मेसोपोटामियाई सभ्यता में मुख्यतः बेलनाकार मुहरों का प्रयोग किया जाता था।
 - d) दोनों ही सभ्यता से प्राप्त मृदभांडों एवं अन्नागारों के आकार-प्रकार एवं संरचना में पर्याप्त अंतर है।
 - e) हड़प्पा सभ्यता में चित्राक्षर लिपि (Pictographic Script) का, जबकि मेसोपोटामियाई सभ्यता में कीलनुमा लिपि (Cuneiform Script) का प्रयोग किया जाता था।
 - f) हड़प्पा सभ्यता से मंदिरों के साक्ष्य प्राप्त नहीं होते, जबकि मेसोपोटामियाई सभ्यता से मंदिरों के साक्ष्य मिले हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हड़प्पा सभ्यता के उद्भव में मेसोपोटामियाई उत्पत्ति का सिद्धांत तर्कतः स्वीकार नहीं किया जा सकता और न ही हड़प्पा सभ्यता को मेसोपोटामियाई सभ्यता के उपनिवेश के रूप में देखा जा सकता है।

♦ आर्य उत्पत्ति का सिद्धांत

बी. बी. लाल, एस. आर. राव, जगपति जोशी, टी. एन. रामचन्द्रन आदि इतिहासकार हड़प्पा सभ्यता के उद्भव में आर्य उत्पत्ति के सिद्धांत को स्वीकार करते हैं। इस मत के समर्थकों के अनुसार वैदिक आर्यों के द्वारा ही नगरीकृत हड़प्पा सभ्यता का विकास किया गया। इस सिद्धांत के समर्थकों ने अपने मत के पक्ष में कुछ तर्क भी दिए -

- 1) दोनों ही सभ्यता का केन्द्रीय क्षेत्र एक समान (सप्तसैधव प्रदेश) था।
- 2) दोनों ही सभ्यता में प्रकृति पूजा प्रचलित थी।
- 3) दोनों ही सभ्यता में घोड़ों एवं अग्निवेदिकाओं के साक्ष्य प्राप्त हुए हैं।
- 4) ऋग्वेद में प्रयुक्त हरियूपिया शब्द की साम्यता हड़प्पा से मानी गई है।
- 5) आर्यों के देवता इन्द्र दुर्गों के देवता थे, हड़प्पा में भी दुर्गों का महत्व था।

यद्यपि हड़प्पा सभ्यता एवं वैदिक संस्कृति के बीच कुछ समानताएं दिखाई देती हैं, परन्तु दोनों के मध्य अनेक भिन्नताएं भी थीं -

- 1) नवीन शोधों से यह स्पष्ट हो गया है कि हड़प्पा सभ्यता का केन्द्रीय क्षेत्र सप्तसैधव प्रदेश नहीं बल्कि सरस्वती नदी घाटी था।
- 2) हड़प्पा सभ्यता एक नगरीकृत सभ्यता थी, जबकि वैदिक सभ्यता एक ग्रामीण सभ्यता थी।
- 3) हड़प्पाई समाज मातृसत्तात्मक, जबकि वैदिक समाज पितृसत्तात्मक था।
- 4) वेदों में इन्द्र को पुरन्दर, अर्थात् दुर्गों को तोड़ने वाला कहा गया है न कि दुर्गों का निर्माता।
- 5) वैदिक काल में लोहे के साक्ष्य प्राप्त होते हैं, जबकि हड़प्पा सभ्यता में लोहे के साक्ष्य प्राप्त नहीं होते।
- 6) आर्यों को लिपि का ज्ञान नहीं था, जबकि हड़प्पा सभ्यता में लिपि प्रचलित थी।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि वैदिक आर्यों को हड़प्पा सभ्यता का निर्माता नहीं माना जा सकता है।

♦ देशी/क्रमिक उत्पत्ति का सिद्धांत

फेयर सर्विस, रोमिला थापर, अमलानन्द घोष, डी. पी. अग्रवाल आदि इतिहासकारों ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि हड़प्पा सभ्यता एक स्वदेशी सभ्यता ही थी तथा इसका विकास 3000 वर्षों से भी अधिक समय तक चली एक क्रमिक प्रक्रिया के फलस्वरूप हुआ था। इन इतिहासकारों के अनुसार बलूचिस्तान स्थित मेहरगढ़, सिन्धु स्थित आमरी व कोटदीची तथा राजस्थान स्थित सोथी जैसी प्राक्-हड़प्पाई संस्कृतियों के क्रमिक विकास से ही हड़प्पा सभ्यता का नगरीय स्वरूप अस्तित्व में आया है।

वास्तव में हड़प्पा सभ्यता के उद्भव में देशी उत्पत्ति का सिद्धांत ही अधिक तार्किक प्रतीत होता है। पुरातात्विक खोजों से यह स्पष्ट हो गया है कि हड़प्पा सभ्यता से पूर्व अफगानिस्तान, बलूचिस्तान व सिन्धु में कई ग्रामीण संस्कृतियां अस्तित्व में थीं। चूंकि ये संस्कृतियां सिन्धु नदी-घाटी के मैदानों में स्थित थीं, अतः यहां कृषि का निरंतर विकास होता गया। आगे चलकर यहां के निवासियों ने प्रस्तर व तांबे के उपकरणों के साथ-साथ कांसे के उपकरणों का भी उपयोग कृषि क्षेत्र में प्रारंभ कर दिया होगा, जिससे कृषि अधिशेष प्राप्त हुआ होगा। अब चूंकि इस क्षेत्र में कई खानाबदोश जातियां भी निवास करती थीं, जिनका सम्पर्क पश्चिमी एशिया के लोगों के साथ रहा होगा। अतः इन खानाबदोश जातियों के द्वारा कृषि अधिशेष का बाह्य व्यापार किया गया होगा, जिससे आर्थिक लाभ प्राप्त हुआ होगा। इस आर्थिक लाभ ने ही इन ग्रामीण संस्कृतियों के नगरीय विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया होगा। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि जब ये प्राक्-हड़प्पाई ग्रामीण संस्कृतियां हड़प्पाई संस्कृतियों में विकसित हो रही होंगी तो संभव है कि मेसोपोटामियाई तत्वों ने भी इसके स्वरूप में अपनी भूमिका निभाई हो, परन्तु मेसोपोटामियाई तत्वों का प्रभाव व्यापारिक एवं सांस्कृतिक आदान-प्रदान के द्वारा ही संभव हुआ होगा।

इस प्रकार हड़प्पा सभ्यता के उद्भव से संबंधित विभिन्न विचारों में सर्वाधिक तार्किक विचार देशी उत्पत्ति का सिद्धांत प्रतीत होता है। हालांकि इस संबंध में किसी निश्चित निष्कर्ष तक पहुंचने हेतु अभी और भी पुरातात्विक खोजों एवं अनुसंधानों की आवश्यकता है।

□ हड़प्पा सभ्यता का स्वरूप

♦ राजनीतिक जीवन

लगभग 13 लाख वर्ग किलोमीटर में फैली हुई हड़प्पा सभ्यता 600 वर्षों तक निरंतर कायम रही। यह तथ्य किसी केन्द्रीय शासक वर्ग की ओर संकेत करते हैं। इस प्रकार यह तो स्पष्ट है कि हड़प्पा सभ्यता में कोई न कोई शासक वर्ग अवश्य था, किन्तु हड़प्पा सभ्यता में प्रशासन का स्वरूप क्या था? यह विद्वानों के बीच विवाद का विषय है।

विद्वानों का एक वर्ग यह मानता है कि हड़प्पा सभ्यता के अलग-अलग नगरों में अलग-अलग राजनीतिक संगठन रहा होगा। किन्तु हमें हड़प्पा सभ्यता के विभिन्न नगरों की बसावट में, उनकी इमारतों, सड़कों, मुहरों, मृदभांडों एवं लिपि में प्रायः एकरूपता दिखाई देती है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि हड़प्पा सभ्यता के विभिन्न नगरों में अलग-अलग शासक वर्ग नहीं, बल्कि कोई एक ही केन्द्रीय शासक वर्ग रहा होगा।

विद्वानों का एक अन्य वर्ग यह मानता है कि हड़प्पा सभ्यता में मेसोपोटामिया व मिस्र के समान ही पुरोहितों का शासन था। ए. एल. बाशम ने इस मत के समर्थन में मोहनजोदड़ों से प्राप्त सभागार तथा बलूचिस्तान से प्राप्त टीलों की ओर संकेत किया है। यहां सभागार को पुरोहित आवास तथा टीलों को मंदिरों के रूप में बताने का प्रयास किया गया है। किन्तु आधुनिक अनुसंधानों से यह स्पष्ट हो गई है कि हड़प्पा सभ्यता से मंदिरों के साक्ष्य प्राप्त नहीं होते। अतः वर्तमान में इस मत को अधिक महत्व नहीं दिया जाता है।

कुछ अन्य इतिहासकार जैसे हन्टर के अनुसार हड़प्पा सभ्यता में जनतांत्रिक पद्धति रही होगी। वहीं मैके के अनुसार हड़प्पा सभ्यता में जनप्रतिनिधि का शासन रहा होगा, किन्तु इन मतों के समर्थन में भी कोई पुरातात्विक साक्ष्य प्राप्त नहीं होते हैं।

डॉ. आर. एस. शर्मा के अनुसार हड़प्पा सभ्यता अपने नगरीकरण के लिए प्रसिद्ध थी। चूंकि यहां के नगरीकरण का प्रमुख आधार उन्नत वाणिज्य एवं व्यापार था। अतः हड़प्पा सभ्यता का शासन संभवतः वणिक वर्ग के हाथों में रहा होगा।

उपर्युक्त सभी मतों में से यद्यपि डॉ. आर. एस. शर्मा का मत सर्वाधिक तार्किक प्रतीत होता है। तथापि इस सम्बन्ध में किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुंचने हेतु अभी और भी पुरातात्विक खोजों एवं अनुसंधानों की आवश्यकता है।

♦ सामाजिक जीवन

हड़प्पाई समाज **समतामूलक समाज** था। समाज में छुआछूत एवं जाति-प्रथा के साक्ष्य प्राप्त नहीं होते हैं। सम्पूर्ण समाज यद्यपि 4 वर्णों - विद्वान, योद्धा, व्यापारी एवं श्रमिक में विभाजित था, किन्तु वर्ण का निर्धारण संभवतः जन्म के आधार पर नहीं, बल्कि योग्यता के आधार पर किया जाता था।

हड़प्पाई समाज एक **बहुप्रजातीय समाज** था, जिसमें प्रोटोआस्ट्रेलायड, भू-मध्यसागरीय, मंगोलायड एवं अलपाइन प्रजाति के लोग निवास करते थे। समाज में **वर्गीय विभाजन** के भी साक्ष्य प्राप्त होते हैं। प्रायः शासक वर्ग पश्चिम दिशा में स्थित दुर्ग में, जबकि आम जनता पूर्व दिशा में स्थिति निचले शहर में निवास करती थी। लोथल से 13 कमरों का मकान प्राप्त हुआ है, जो कि संभवतः किसी धनी व्यापारी का रहा होगा। उसी प्रकार हड़प्पा से श्रमिक आवास के साक्ष्य प्राप्त होते हैं।

हड़प्पा व मोहनजोदड़ों से प्राप्त स्त्री मृणमूर्तियों की अत्यधिक संख्या के आधार पर माना जाता है कि हड़प्पाई समाज **मातृसत्तात्मक समाज** था। समाज में स्त्रियों की स्थिति बेहतर थी। इस काल में बाल-विवाह एवं पर्दा प्रथा के साक्ष्य प्राप्त नहीं होते हैं।

हड़प्पाई समाज **उपयोगितावादी समाज** था। प्रदर्शन व दिखावे की बजाय जरूरत व उपयोगिता को अधिक महत्व दिया जाता था। हड़प्पा सभ्यता के भवनों के दरवाजों व दीवारों में किसी प्रकार की कलाकारी दिखाई नहीं देती। यद्यपि कुछ स्थलों से सौन्दर्य प्रसाधन की वस्तुएं, जैसे - चाहुन्दड़ों से लिपिस्टिक, इत्र व काजल प्राप्त हुए हैं, किन्तु यह तथ्य मेसोपोटामियाई प्रभाव को ही दर्शाता है।

हड़प्पा सभ्यता से प्राप्त लिपि एवं मानक मापतौल की इकाई के साक्ष्य इस बात की ओर संकेत करते हैं कि हड़प्पाई समाज **सुशिक्षित समाज** था। उसी प्रकार हड़प्पाई समाज को एक **शांतिप्रिय समाज** के रूप में भी स्वीकार किया जाता है, क्योंकि इस सभ्यता से संबंधित स्थलों की खुदाई से आक्रामक अस्त्र-शस्त्रों की प्राप्ति बहुत कम हुई है। साथ ही हड़प्पा सभ्यता में दुर्गों का अत्यधिक महत्व था। इससे भी यह प्रमाणित होता है कि इस सभ्यता के निवासी आक्रमण की बजाय सुरक्षा को अधिक महत्व देते थे।

हड़प्पा सभ्यता के निवासी शाकाहारी एवं मांसाहारी दोनों ही थे। इस सभ्यता के लोगों के मनोरंजन के साधन शिकार करना, मछली पकड़ना, पशु-पक्षियों को लड़ाना, चौपड़ व पांसा खेलना, ढोल व वीणा बजाना आदि थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बहुवर्णीय, बहुवर्गीय एवं बहुप्रजातीय समाज होने के बावजूद भी हड़प्पाई समाज में वर्तमान समाज की कई बुराईयां एवं कुरूपतियां, जैसे छुआछूत, जाति-भेद, लिंग-भेद आदि का अभाव था। इस रूप में हड़प्पाई समाज वर्तमान समाज के समक्ष एक समतामूलक समाज का आदर्श प्रस्तुत करता है।

♦ आर्थिक जीवन

सिन्धु घाटी सभ्यता नदियों के आस-पास विकसित हुई थी। अतः यहां की कृषि विकसित अवस्था में थी। कृषि अधिशेष को अन्नागारों में सुरक्षित रखा जाता था, यह भी कृषि के विकसित होने का प्रमाण है। कृषि कार्य में पत्थर व कांसे के उपकरणों का प्रयोग होता था। खेतों की जुताई प्रायः हल से की जाती थी। कालीबंगा से जुते हुए खेत का साक्ष्य तथा बनावली से मिट्टी के हल का साक्ष्य प्राप्त हुआ है। कृषि भूमि की सिंचाई हेतु नदियों एवं कुओं के जल का प्रयोग किया जाता था।

हड़प्पा सभ्यता में सामान्यतः फसलें नवम्बर में बोई व अप्रैल में काटी जाती थी। फसलों में गेहूं की 3, जौ की 2 व मटर की 1 प्रजाति के साक्ष्य प्राप्त होते हैं। दाल के साक्ष्य नहीं होते हैं। चावल की खेती गुजरात तथा संभवतः राजस्थान में होती थी। लोथल व रंगपुर से मृण्मूर्ति में धान की भूसी लिपटी मिली है। रागी की फसल उत्तर भारत के किसी भी स्थल से प्राप्त नहीं हुई है। हड़प्पाई स्थल मेहरगढ़ से कपास की कृषि के विश्व के प्राचीनतम साक्ष्य प्राप्त होते हैं।

इस सभ्यता में पशुपालन का भी महत्व था। पशुओं में मुख्यतः कुबड़ वाला सांड तथा इसके अलावा बिना कुबड़ वाले बैल, भैंस, गाय, भेड़, बकरी, कुत्ते, गधे, खच्चर तथा सुअर आदि पालतू पशु थे। गुजरात के लोग हाथी पालते थे, परन्तु हड़प्पा सभ्यता में घोड़ा, शेर, बाघ आदि को पालतू नहीं बनाया जाता था।

हड़प्पा सभ्यता की अर्थ व्यवस्था मुख्यतः वाणिज्य-व्यापार पर आधारित थी। आंतरिक व्यापार हड़प्पा सभ्यता के विभिन्न नगरों एवं राजस्थान, कर्नाटक, महाराष्ट्र आदि के मध्य होता था, जबकि बाह्य व्यापार मुख्यतः मेसोपोटामिया, अफगानिस्तान, फारस की खाड़ी आदि से होता था। पुरातात्विक साक्ष्यों से भी बाह्य व्यापार की पुष्टि होती है। उदाहरणार्थ - हड़प्पाकालीन मुहरें मेसोपोटामिया तथा फारस की खाड़ी से प्राप्त हुई हैं। उसी प्रकार मेसोपोटामिया स्थित अक्काड़ के प्रसिद्ध सम्राट सारगौन (2350 ई. पू.) के अभिलेख से भी बाह्य व्यापार की पुष्टि होती है। इस अभिलेख में उल्लेखित है कि मेसोपोटामिया का व्यापार दिलमन (बहरीन), माकन (मकरान अर्थात् बलुचिस्तान) तथा मेलूहा (हड़प्पा सभ्यता) से होता था।

बाह्य व्यापार में रोजनामचे की वस्तुओं की जगह मुख्यतः समृद्ध लोगों की विलासिता संबंधी वस्तुओं को शामिल किया जाता था। बाह्य व्यापार में आयात की प्रमुख मर्दें सोना, चांदी, टिन, सीसा, फिरोजा आदि थीं। सोना कर्नाटक व मेसोपोटामिया से तथा तांबा राजस्थान से मंगाया जाता था। उसी प्रकार चांदी, टिन, सीसा आदि का आयात अफगानिस्तान व ईरान से किया जाता था। लाजवर्द मणि का आयात अफगानिस्तान स्थित बदकशां नामक स्थान से होता था। हड़प्पा सभ्यता के विभिन्न नगरों से कुछ वस्तुओं का निर्यात भी किया जाता था, जैसे - हाथी दांत व सीप की वस्तुएं, मोती, अनाज, कपास आदि।

व्यापार संतुलन हड़प्पा सभ्यता के पक्ष में था, इसका प्रमाण है उन्नत नगरीय केन्द्रों का निर्माण हड़प्पा सभ्यता के अंतर्गत हमें कई नगरों के साक्ष्य प्राप्त होते हैं, जैसे - मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, धौलावीरा, राखीगढ़ी, लोथल, कालीबंगा आदि।

यातायात व संचार के साधनों के रूप में आंतरिक व्यापार में मुख्यतः ठेलागाड़ी व बैलगाड़ी, जबकि बाह्य व्यापार में नावों आदि का प्रयोग किया जाता था। हड़प्पा व चान्हूदड़ो से कांसगाड़ी का साक्ष्य तथा लोथल से पक्की मिट्टी की नाव का साक्ष्य प्राप्त होता है। बाह्य व्यापार में बंदरगाहों का प्रमुख स्थान था। सर्वाधिक महत्वपूर्ण बंदरगाह लोथल स्थित ज्वारीय बंदरगाह था।

वाणिज्य-व्यापार में मानक माप-तौल के पैमानों का उपयोग किया जाता था। मोहनजोदड़ो से सीप का बना बाट तथा लोथल से हाथी दांत का स्केल प्राप्त हुआ है। गणना में मुख्यतः 16 की संख्या तथा उसके गुणक का प्रयोग किया जाता था।

हड़प्पा सभ्यता में शिल्प एवं उद्योग भी विकसित अवस्था में थे। सर्वाधिक महत्वपूर्ण वस्त्र उद्योग था। मोहनजोदड़ो से सूती वस्त्र का साक्ष्य प्राप्त होता है। शिल्प उद्योग में शंख, सीप, हाथी दांत, गोमेद, फिरोजा, सेलखड़ी, मिट्टी, धातु व प्रस्तर की वस्तुएं बनाई जाती थीं। इनसे न केवल बर्तन, बल्कि मनके व मुहरें भी बनाई जाती थीं।

हड़प्पा सभ्यता का वाणिज्य-व्यापार मुख्यतः वस्तु-विनिमय प्रणाली पर आधारित था। हालांकि इस सभ्यता में हमें अत्यधिक संख्या में मुहरों के भी साक्ष्य प्राप्त होते हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि वस्तु-विनिमय प्रणाली के अतिरिक्त छोटे स्तर पर मुहरों का प्रयोग मुद्राओं के रूप में भी किया जाता रहा होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत की प्रथम नगरीकृत सभ्यता का प्रमुख आधार उसकी आर्थिक सम्पन्नता थी। जबकि इस आर्थिक सम्पन्नता का आधार उन्नत कृषि, पशु-पालन एवं विकसित वाणिज्य-व्यापार था।

♦ धार्मिक जीवन

हड़प्पा सभ्यता मुख्यतः **लौकिक सभ्यता** थी, जिसमें यद्यपि धार्मिक तत्व उपस्थित था, परन्तु वर्चस्वशाली नहीं। इस सभ्यता से मंदिर के साक्ष्य प्राप्त नहीं होते हैं। **जल पूजा** प्रचलित थी। मोहनजोदड़ो से वृहद स्नानागार तथा पुरोहित आवास के साक्ष्य प्राप्त हुए हैं। इससे स्नान के महत्व का पता चलता है।

इस सभ्यता में **मातृदेवी की पूजा** भी प्रचलित थी। हड़प्पा से प्राप्त मुहर में एक स्त्री के गर्भ से पौधा प्रस्फुटित होता दिखाया गया है, जो संभवतः **पृथ्वी पूजा** (उर्वरता की देवी) का प्रमाण है। मोहनजोदड़ो से हमें **पाशुपति शिव की पूजा** का भी साक्ष्य प्राप्त होता है। उसी प्रकार हड़प्पा सभ्यता में **लिंग पूजा, पशु पूजा, नाग पूजा, पीपल, नीम व बबूल की पूजा** भी की जाती थी। साथ ही **अग्नि पूजा** भी प्रचलित थी। **कालीबंगा** तथा **लोथल** से **अग्निवेदिका के साक्ष्य** प्राप्त होते हैं।

इस सभ्यता के धर्म में **प्रेतवाद** का भाव भी दिखाई देता है। प्रेतवाद वह धार्मिक अवधारणा है, जिसमें प्रेतों की पूजा बुरी आत्मा के भय से की जाती थी। इस सभ्यता में हमें **भक्ति** तथा **पूनर्जन्म** के भी साक्ष्य प्राप्त होते हैं।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि हड़प्पा सभ्यता के धर्म की विशेषताएं वर्तमान के धर्म में भी दिखाई देती हैं। इस रूप में वर्तमानकालीन धर्म, हड़प्पाकालीन धर्म से प्रेरणा ले रहा है।

♦ संस्कृति/कला

हड़प्पाकालीन लोगों ने मूर्तिकला, स्थापत्य कला, मृद्भाण्ड कला तथा चित्रकला के क्षेत्र में समुचित विकास कर लिया था। खुदाई में प्राप्त विभिन्न मानव एवं पशु चित्रों की मुहरों अपने में अनूठी हैं।

1) **स्थापत्य कला** – हड़प्पा, मोहनजोदड़ो एवं अन्य नगरों की खुदाई से प्राप्त सुनियोजित भवन एवं नगर निर्माण उनकी उन्नत स्थापत्य कला का प्रमाण है। ये लोग पक्की ईंटों, प्लस्टर, चूना आदि का प्रयोग करना जानते थे। निजी महत्व के भवनों के अतिरिक्त उनके सार्वजनिक महत्व के भवन जैसे वृहत्स्नानागार, अन्नागार आदि भी प्राप्त हुए हैं। नगरों में गढ़ी के अवशेष भी मिलते हैं। मकानों में पानी आदि के निकास हेतु नालियों की व्यवस्था उनके वैज्ञानिक दृष्टिकोण को दर्शाती है।

2) **मूर्तिकला** – खुदाई के दौरान मिट्टी, पत्थर एवं धातु की अनेक मूर्तियां मिली हैं, जो न केवल अपने कलात्मक सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध हैं, बल्कि हड़प्पा सभ्यता का इतिहास जानने का भी महत्वपूर्ण स्रोत है। हड़प्पा से प्राप्त शॉल ओढ़े हुए एक पुरोहित की प्रस्तर मूर्ति में ललाट छोटा और पीछे की ओर ढलवा है। आंखें लम्बी, कम चौड़ी और अधखुली हैं। सम्भवतः यह किसी योगी की मूर्ति है, जिसकी दृष्टि नासाग्र पर टिकी है, अर्थात् हड़प्पा लोगों में योग विद्या का प्रसार था। उसी प्रकार मोहनजोदड़ो से प्राप्त कांसे की नर्तकी की मूर्ति धातुकला का अनुपम उदाहरण है। यह अर्द्धनग्न मूर्ति है, जिसके गले में हार तथा बाएं हाथ में चूड़ियां हैं। मूर्ति का दायां हाथ कूल्हे पर रखा है तथा दूसरा पैर नाचने की मुद्रा में दिखाया गया है।

इनके अतिरिक्त लाल रंग की पकाई हुई मिट्टी की असंख्य मूर्तियां मिली हैं। ये मूर्तियां स्त्री, पुरुषों के अतिरिक्त पशु-पक्षियों की हैं। इनमें मातृदेवी के बाद कूबड़ वाला बैल विशेष उल्लेखनीय है।

3) **मुहरें** – हड़प्पा सभ्यता की कला में मुहरों का विशिष्ट स्थान है। यहां से 2000 से अधिक मुहरें मिली हैं, जिनमें अधिकांश सेलखड़ी की बनी हैं, कुछ मुहरें कांचली, मिट्टी, चर्ट आदि की भी बनी हैं। इन मुहरों पर मनुष्य, पशु-पक्षियों व वृक्षों की आकृति उत्कीर्ण हैं। इनमें एक सींग वाला पशु, वृषभ, गैंडा, बाघ, भैंसा, हिरण, हाथी, बकरा, खरगोन आदि पशु हैं। पशुपति शिव की मुहर मोहनजोदड़ो से मिली है तथा लोथल से नाव का चित्र वाली मुहर मिली है। कुछ मुहरों पर स्वास्तिक व पीपल के वृक्ष के चित्र खुदे हुए हैं। यहां से प्राप्त कुछ तांबे की पट्टिकाओं पर भी मुहरों जैसी आकृतियां उत्कीर्ण हैं।

4) **मृद्भाण्ड** – हड़प्पा काल में बर्तन हाथ व चाक दोनों से बनाए जाते थे। खुदाई में कुम्हारों का भी अवशेष मिला है। कुछ बर्तनों को लाल रंग से पोतकर उन पर काली रेखाओं से चित्र बनाए गए हैं। बर्तन आवे (भट्ठा) में पकाए जाते थे। इन बर्तनों पर विविध पशु-पक्षियों व वृक्षों का सुन्दरता से अंकन किया गया है। लोथल से प्राप्त मृद्भाण्ड में कुत्ते को हिरण का पीछा करते हुए दिखाया गया है, जिसे पंचतंत्र में उल्लेखित चालाक लोमड़ी की कथा के सदृश्य माना जाता है।

इसके अतिरिक्त विभिन्न स्थलों से प्राप्त सोने, चांदी व पत्थर के मनके व आभूषण मिले हैं, जो जौहरियों की कला विकसित होने का प्रमाण है। इस प्रकार समग्र रूप में सैदव सभ्यता की कला बड़ी प्रशंसनीय है।

□ हड़प्पा सभ्यता का पतन (Decline of Harappa Civilization)

लगभग 13 लाख वर्ग किमी क्षेत्र में फैली हड़प्पा सभ्यता 600 वर्षों तक (2350 – 1750 ई.पू.) चलती रही, किन्तु 1750 ई. पू. के आसपास इस सभ्यता के नगरीय स्वरूप का पतन हो गया। हड़प्पा सभ्यता के पतन के पीछे उत्तरदायी कारणों को लेकर इतिहासकारों में विवाद है। इस विवाद के निम्नलिखित प्रमुख कारण हैं -

1) साहित्यिक स्रोतों की अनुपलब्धता तथा पुरातात्विक स्रोतों की अपर्याप्तता।

2) क्षैजित खुदाई का अभाव, आदि।

हड़प्पा सभ्यता के पतन के संदर्भ में इतिहासकारों ने कई कारण बताए हैं, जिन्हें 2 वर्गों में बांटकर देखा जा सकता है -

1) आकस्मिक पतन का सिद्धांत।

2) क्रमिक पतन का सिद्धांत।

♦ आकस्मिक पतन का सिद्धांत

हड़प्पा सभ्यता के आकस्मिक पतन संबंधी सिद्धांत में मुख्यतः आर्य-आक्रमण, बाढ़, नदी का मार्ग परिवर्तन, जलप्लावन या विवर्तनीय विक्षोभ, सूखा आदि कारणों को उत्तरदायी माना गया है।

गार्डन चाइल्ड, मार्टिंजर व्हीलर जैसे इतिहासकारों ने हड़प्पा सभ्यता के पतन हेतु आर्य-आक्रमण को उत्तरदायी माना है। इस संदर्भ में मार्टिंजर व्हीलर का यह कथन है कि 'पारिस्थितिकीयजन्य साक्ष्यों के आधार पर इन्द्र दोषी ठहरता है।' यहां इन्द्र का प्रतिकात्मक अर्थ है - आर्यों की सेना। इन इतिहासकारों का यह मानना है कि हड़प्पा सभ्यता के अंतिम चरण में आर्यों के आक्रमण के कारण इस सभ्यता का आकस्मिक अंत हो गया। अपने इस मत के पक्ष में इन्होंने कुछ पुरातात्विक एवं साहित्यिक साक्ष्य भी प्रस्तुत किए हैं, जैसे -

1) मोहनजोदड़ों से 38 नर कंकाल मिले हैं, जिन पर धारदार अस्त्रों के घाव हैं।

2) हड़प्पा स्थित कब्रिस्तान - H से ऐसा नरकंकाल प्राप्त हुआ है, जो अपने आकार-प्रकार में हड़प्पाकालीन निवासियों से भिन्न हैं। इसे किसी आक्रमणकारी का कंकाल माना गया है।

3) ऋग्वेद में इन्द्र को 'पुरंदर' (दुर्गों को नष्ट करने वाला) कहा गया है।

4) ऋग्वेद में इन्द्र को 'वृत्तासुरहन्ता' कहा गया है, जिसका अर्थ है वृत्तासुर की हत्या कर जल को मुक्त कराने वाला। यहां इन्द्र को बांधों को नष्ट कर जल को मुक्त कराने का श्रेय दिया गया है।

5) ऋग्वेद में 'हरयूपिया' शब्द का उल्लेख है, जिसकी पहचान हड़प्पा के रूप में की गई है और इसे इन्द्र द्वारा नष्ट माना गया है।

इन समस्त तथ्यों के आधार पर यह प्रमाणित करने का प्रयास किया गया है कि आर्यों के द्वारा ही मोहनजोदड़ों एवं बांधों को नष्ट किया गया था। चूंकि हड़प्पा सभ्यता की समृद्धि में मोहनजोदड़ों एवं बांधों का विशेष महत्व था। अतः इनके नष्ट होने के साथ ही संपूर्ण हड़प्पा सभ्यता का भी पतन हो गया, किन्तु गहन विश्लेषण के उपरांत इस मत की सीमाएं स्पष्ट हो जाती हैं, जिन्हें निम्नलिखित बिन्दुओं के अंतर्गत देखा जा सकता है -

1) मोहनजोदड़ों से प्राप्त केवल 38 नरकंकालों से संपूर्ण मोहनजोदड़ों नगर के पतन को स्वीकार करना अतार्किक है। फिर आधुनिक शोधों से यह स्पष्ट हो गया है कि ये नरकंकाल अलग-अलग काल से संबंधित थे।

2) संपूर्ण हड़प्पा सभ्यता का पतन लगभग 1750 ई.पू. तक हो चुका था, जबकि वैदिक आर्यों का आगमन 1500 ई.पू. माना जाता है। इस प्रकार हड़प्पा सभ्यता के पतन तथा वैदिक आर्यों के आगमन में लगभग 250 वर्षों का अंतर था।

3) संभव है कि हड़प्पा सभ्यता के पतन के उपरान्त कुछ दुर्ग एवं बांध शेष रह गये होंगे, जिनका विनाश ही बाद में आए आर्यों के द्वारा किया गया होगा। यही कारण है कि आर्यों के देवता इन्द्र को पुरन्दर एवं वृत्तासुरहन्ता कहा गया है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि सम्पूर्ण हड़प्पा सभ्यता के पतन हेतु केवल आर्य-आक्रमण को उत्तरदायी नहीं माना जा सकता है। वास्तव में आर्य-आक्रमण की आवधारणा साम्राज्यवादी उद्देश्य से प्रेरित थी, जो कि प्रकारान्तर से ब्रिटिश-आक्रमण का औचित्य सिद्ध करती है।

आगे विभिन्न इतिहासकारों के द्वारा हड़प्पा सभ्यता के पतन हेतु कुछ पर्यावरणीय कारकों, जैसे बाढ़, नदी का मार्ग परिवर्तन, जलप्लावन या विवर्तनीय विक्षोभ, सूखा आदि कारणों को उत्तरदायी माना गया।

जॉनमार्शल, एस. आर. राव तथा मैके महोदय ने क्रमशः मोहनजोदड़ो, लोथल तथा चाहुन्दड़ो से बाढ़ के साक्ष्य प्राप्त कर यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया कि वे नदियां जिनकी गोद में हड़प्पा सभ्यता पनपी थी, उनमें आई बाढ़ ही इस सभ्यता के विनाश का कारण साबित हुई। उसी प्रकार माधोस्वरूप वत्स, लैम्ब्रिक एवं डेल्लस के अनुसार रावी एवं घघ्घर नदी के मार्ग बदलने से क्रमशः हड़प्पा एवं कालीबंगा का पतन हो गया। इन इतिहासकारों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि नदियों के मार्ग परिवर्तन से नगरों की समृद्धि पर प्रतिकूल असर पड़ा, जिससे वे नष्ट हो गये तथा संपूर्ण हड़प्पा सभ्यता का विनाश हो गया।

वहीं एम. आर. साइनी एवं राइक्स ने हड़प्पा सभ्यता के पतन में जलप्लावन या विवर्तनीय विक्षेप को उत्तरदायी माना है। इस मत के अनुसार विवर्तनीय हलचलों के कारण भूमि का स्तर ऊपर उठ जाने से मोहनजोदड़ों में सिन्धु नदी का बांध नष्ट हो गया तथा जल एक खास पर आकर रूक गया। इससे अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा तथा सभ्यता का विनाश हो गया।

इसके विपरीत अमलानन्द घोष, डी. पी. अग्रवाल जैसे इतिहासकारों ने हड़प्पा सभ्यता के पतन हेतु जल की अधिकता की बजाय जल की कमी को उत्तरदायी माना है। इस मत के अनुसार धीरे-धीरे हड़प्पा की नदियों में जल का स्तर कम हो रहा था। इससे कृषि एवं सामान्य जीवन के लिए जल की कमी हो गई थी। इस प्रकार जल की कमी के कारण संपूर्ण हड़प्पा सभ्यता का पतन हो गया। इन इतिहासकारों ने घघ्घर नदी के जल-स्तर में कमी होने को भी प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया है। इनके अनुसार पूर्व में सतलज एवं यमुना, घघ्घर नदी की सहायक नदियां थीं, किन्तु आगे ये दोनों ही नदियां क्रमशः सिन्धु एवं गंगा नदी के प्रवाह में शामिल हो गई, जिससे घघ्घर नदी सूख गई।

इस प्रकार हड़प्पा सभ्यता के पतन हेतु विभिन्न इतिहासकारों ने अलग-अलग कारणों को उत्तरदायी माना है तथा यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि सम्पूर्ण हड़प्पा सभ्यता का आकस्मिक एवं तीव्र गति से विनाश हुआ।

♦ क्रमिक पतन का सिद्धांत

इतिहासकारों का एक वर्ग हड़प्पा सभ्यता का आकस्मिक पतन नहीं बल्कि क्रमिक पतन के सिद्धांत को स्वीकार करता है। इस संदर्भ में फे यर सर्विस ने पारिस्थितिकीय असंतुलन को हड़प्पा सभ्यता के पतन का कारण माना है। उनके अनुसार वन्य संसाधनों के दोहन से पारिस्थितिकीय असंतुलन उत्पन्न हुआ। इस पारिस्थितिकीय असंतुलन अर्थात् वर्षा-जल, तापमान आदि में परिवर्तन के कारण हड़प्पा सभ्यता के कोर-क्षेत्र से जनसंख्या का प्रवासन अन्य क्षेत्रों की ओर होने लगा। इस प्रकार हड़प्पा सभ्यता के नगरीय क्षेत्रों का पतन हो गया।

उपर्युक्त दोनों ही मतों के विश्लेषण के उपरान्त हड़प्पा सभ्यता के पतन हेतु क्रमिक पतन का सिद्धांत ही तार्किक प्रतीत होता है। पुरातात्विक साक्ष्यों से भी यह सिद्ध होता है कि हड़प्पा सभ्यता से संबंधित विभिन्न नगरों जैसे मोहनजोदड़ो एवं धौलावीरा का क्रमिक रूप से पतन हुआ था। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि संपूर्ण हड़प्पा सभ्यता के पतन के पीछे कोई एक कारण नहीं बल्कि अलग-अलग नगरों के पतन के पीछे अलग-अलग कारण उत्तरदायी रहे होंगे। हम जानते हैं कि हड़प्पा सभ्यता का अस्तित्व कुछ आधारभूत तत्वों के सूक्ष्म संतुलन पर आधारित था, जैसे - उत्पादन अधिशेष एवं विकसित वाणिज्य-व्यापार। ऊपर उल्लेखित किसी भी कारण, जैसे - आक्रमण, बाढ़, नदियों का मार्ग परिवर्तन, जलप्लावन, सूखा, जलवायु-परिवर्तन आदि में से किसी भी वजह से यह सूक्ष्म संतुलन बिगड़ गया होगा। इससे उत्पादन अधिशेष एवं वाणिज्य-व्यापार में गिरावट आ गई होगी, जिससे क्रमिक रूप से इस नगरीकृत सभ्यता का पतन परवर्ती हड़प्पाकालीन ग्रामीण संस्कृतियों के रूप में हो गया होगा।

वैदिक सभ्यता (1500 - 600 ई. पू.) Vedic Civilization (1500 - 600 B. C.)

हड़प्पा सभ्यता के पतन के पश्चात् भारत में जिस नवीन सभ्यता का विकास हुआ, उसे वैदिक अथवा आर्य सभ्यता के नाम से जाना जाता है। वैदिक सभ्यता की जानकारी हमें वैदिक साहित्य से प्राप्त होती है। वैदिक साहित्य से तात्पर्य चारों वेदों (ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद) ब्राह्मण ग्रंथों, अरण्यक एवं उपनिषदों से हैं। 6 वेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द व ज्योतिषि) एवं 4 उपवेद (अथर्ववेद, गंधर्ववेद, धनुर्वेद व आयुर्वेद) अत्यन्त परवर्ती होने के कारण वैदिक साहित्य के अंग नहीं माने जाते हैं। अतः इन्हें वैदिकोत्तर साहित्य के अंतर्गत रखा गया है।

आर्यों को लिपि का ज्ञान नहीं था, इसलिए वैदिक ज्ञान, जो ऋषि-मुनियों आत्म ज्ञान के रूप में ईश्वर से मिला था, को ऋषियों ने वर्षों तक श्रुति के माध्यम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुंचाया। अतः वैदिक साहित्य को श्रुति साहित्य भी कहा जाता है। श्रुति का अर्थ है - सुनकर लिखा हुआ साहित्य। वैदिक साहित्य को अपौरुषेय व नित्य भी कहा जाता है।

वेदों का संकलन महर्षि कृष्ण द्वैपायन ने किया, इसलिए इनका एक नाम वेदव्यास भी है। प्रथम तीन वेदों को वेदत्रयी कहा जाता है। अथर्ववेद इसमें शामिल नहीं है, क्योंकि इसमें यज्ञ से भिन्न लौकिक विषयों का वर्णन है।

□ ऋग्वैदिक साहित्य

• ऋग्वेद

यह आर्यों का सबसे प्राचीन ग्रंथ है, जिसकी रचना संस्कृत भाषा तथा ब्राह्म लिपि में की गई थी। ऋक् का अर्थ होता है छंदबद्ध रचना या श्लोक। ऋग्वेद के सूक्त देवी-देवताओं की स्तुतियों से संबंधित है, अर्थात् ऋग्वेद में प्रार्थनाएं संकलित हैं। ऋग्वेद की रचना संभवतः सप्त-सैन्धव प्रदेश में सरस्वती नदी के किनारे हुई थी। ऋग्वेद एक संहिता है, जिसमें 3 पाठ, 10 मण्डल तथा 1028 सूक्त शामिल हैं। ऋग्वेद का पाठ होता अथवा होत नामक पुरोहित करता था।

ऋग्वेद के 2 से 7 तक के मण्डल सबसे प्राचीन माने जाते हैं। ऋग्वेद के 2 से 7वें मण्डल को गोत्र मण्डल भी कहा जाता है, क्योंकि इन मण्डलों की रचना किसी खास गोत्र से संबंधित एक ही परिवार ने की थी। इस प्रकार गोत्र शब्द का प्रथम उल्लेख ऋग्वेद से प्राप्त होता है, जबकि गोत्र की अवधारणा उत्तर वैदिक काल में विकसित हुई। 1, 8, 9 तथा 10वां मण्डल परवर्ती काल के हैं। इनमें से 3रा मण्डल की रचना ऋषि विश्वामित्र ने की थी, जिसमें गायत्री मंत्र संकलित है। 9वां मण्डल पूर्णतः सोम देवता को समर्पित है। 10वां मण्डल सबसे परवर्ती है। इसी के एक भाग पुरुष सूक्त में सर्वप्रथम शूद्रों की चर्चा की गई है। इस प्रकार चर्तुवर्ण व्यवस्था का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद के 10वें मण्डल के पुरुष सूक्त में मिलता है। ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं की रचना लोपामुद्रा, घोषा, सची, पौलेमी तथा कक्षावृत्ति नामक विदुषि स्त्रियों ने की थी।

• सामवेद

यह एक पद्य ग्रंथ है। साम का अर्थ है - गायन। सामवेद भारतीय संगीत से संबंधित प्राचीनतम ग्रंथ है। सात स्वरों का सर्वप्रथम उल्लेख सामवेद में ही प्राप्त होता है। सामवेद के सूक्तों का गायन करने वाला पुरोहित उद्गाता कहलाता था।

• यजुर्वेद

यह गद्य एवं पद्य दोनों में रचित है। यजुर्वेद में यज्ञों से संबंधित अनुष्ठानिक तथा कर्मकाण्डीय विधियों का उल्लेख है। यजुर्वेद में उल्लेखित कर्मकाण्डों को सम्पन्न करने वाला पुरोहित अध्वर्यु कहलाता था।

• अथर्ववेद

यह गद्य एवं पद्य दोनों में रचित है। अथर्ववेद में वशीकरण, जादू-टोना, भूत-प्रेत तथा औषोधियों का वर्णन है। शल्यक्रिया का सर्वप्रथम उल्लेख अथर्ववेद में ही मिलता है। अथर्ववेद के सूक्तों का उच्चारण करने वाला पुरोहित ब्रह्मा कहलाता था, अर्थात् यज्ञों का निरीक्षण करने वाले पुरोहित को ब्रह्मा कहा जाता था। किसी यज्ञ में कोई बाधा आने पर उसका निराकरण अथर्ववेद करता था। अतः इसे ब्रह्म वेद या श्रेष्ठ वेद कहा गया है।

♦ ब्राह्मण

ब्राह्मण वेदों के गद्य भाग है, जिनके द्वारा वेदों को समझने में सहायता मिलती है। वस्तुतः ये वेद संबंधी अनुष्ठानों पर पाठ है, अर्थात् - इनमें यज्ञों का अनुष्ठानिक तथा कर्मकाण्डीय महत्व दर्शाया गया है।

♦ अरण्यक

वस्तुतः ये ब्राह्मणों के परिशिष्ट हैं। अरण्यक का अर्थ है वन में लिखा जाने वाला। अतः इन्हें वन पुस्तक भी कहा जाता है। अरण्यक में दार्शनिक सिद्धांतों एवं रहस्यवाद का वर्णन है।

♦ उपनिषद्

उपनिषद् शब्द उप एवं निष धातु से बना है। उप का अर्थ है - समीप तथा निष का अर्थ है - बैठना, अर्थात् उपनिषद् का अर्थ है - वह शास्त्र या विद्या, जो गुरु के निकट बैठकर एकान्त में सीखी जाती है। उपनिषद् वेदों के अंतिम भाग है, अतः इन्हें वेदांत भी कहा जाता है। इसमें पूर्णतः दार्शनिक बातें की गई हैं। उपनिषद् ज्ञान पर बल देता है तथा ब्रह्म व आत्मा के संबंधों को निरूपित करता है। कुल उपनिषदों की संख्या 108 है, लेकिन 10 उपनिषद् ही विशेष महत्व के हैं, जिन पर शंकराचार्य ने टीकाएं लिखी हैं। इनमें से छांदोग्य उपनिषद् सबसे प्राचीन है।

वेद	संहिता / पाठ	ब्राह्मण	अरण्यक	उपनिषद्	उपवेद
ऋग्वेद	साकल, बालखिल्य, वाष्कल	ऐतरेय, कौषीतकी	ऐतरेय, कौषीतकी	ऐतरेय, कौषीतकी	अथर्ववेद
सामवेद	कौथुम, राणायनीय, जैमिनीय	ताण्ड्य / महाब्राह्मण / पंचविश / षड्विंश / अद्भूत, जैमिनीय	जैमिनीय, छांदोग्य	जैमिनीय, छांदोग्य, केन	गंधर्ववेद
शुक्ल यजुर्वेद	वाजसनेही	शतपथ	वृहदारण्यक	वृहदारण्यक, इष	घनुर्वेद
कृष्ण यजुर्वेद	काठक, कपिष्ठल, मैत्रेयी तैत्तिरीय	तैत्तिरीय	शतपथ, तैत्तिरीय	मैत्रेयी, तैत्तिरीय, कठ, श्वेताश्वर	घनुर्वेद
अथर्ववेद	शौनक, पिप्पलाद	गोपथ		मुण्डक, माण्डूक्य, प्रश्न	आयुर्वेद, शिल्पवेद

□ आर्यों का मूल निवास स्थान

वैदिक सभ्यता के निर्माता आर्यों को माना जाता है। आर्य संस्कृत भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है - श्रेष्ठ। आर्यों के मूल निवास स्थान को लेकर इतिहासकारों में विवाद है। डॉ. अवीनाशचन्द्र ने सप्त सैन्धव प्रदेश, स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी पुस्तक सत्यार्थ प्रकाश में तिब्बत, पं. बाल गंगाधर तिलक ने अपनी पुस्तक दि आर्कटिक होम ऑफ दि आर्यन्स में उत्तरी ध्रुव, जबकि मैक्स मूलर ने मध्य एशिया में बैक्ट्रिया (अफगानिस्तान) को आर्यों का मूल निवास बताया है। किन्तु सर्वमान्य मत यह है कि आर्य भारत यूरेशिया (आल्प्स पर्वत का पूर्वी क्षेत्र) से आए थे।

□ आर्यों के आगमन की तिथि

आर्यों के भारत आगमन की तिथि के संबंध में इतिहासकारों में विवाद है, किन्तु मान्य मत यह है कि आर्य भारत 1500 ई. पू. में आए थे। एशिया माइनर से प्राप्त बोगाजकोई अभिलेख (1400 ई. पू.) में दो कबीलों खत्ती एवं मितन्नी के मध्य संधि का उल्लेख है। संधि की शर्तों की रक्षा के लिए कुछ वैदिक देवताओं, जैसे - इन्द्र, मित्र, वरुण तथा नासत्य (अश्विन) को साक्षी माना गया है। इससे प्रमाणित होता है कि भारत में आर्यों का आगमन 1400 ई. पू. से पहले हो चुका था।

□ आर्यों का भौगोलिक क्षेत्र

ऋग्वैदिक काल में आर्य उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में अरावली पर्वत तक तथा पूर्व में गंगा नदी से लेकर पश्चिम में अफगानिस्तान तक बसे थे, जबकि उत्तर वैदिक काल तक आते-आते आर्य दक्षिण में नर्मदा नदी तक तथा पूर्व में गंडक नदी तक पहुंच गए थे।

□ वैदिककालीन नदियां

वैदिक संहिता में कुल 31 नदियों का उल्लेख हैं। इनमें से सिन्धु नदी का सबसे अधिक बार उल्लेख है। अतः आर्यों की सबसे महत्वपूर्ण नदी सिन्धु नदी थी, जबकि ऋग्वैदिक आर्यों की सबसे पवित्र नदी सरस्वती नदी थी, जिसे नदीतमा, मातेतमा, देवीतमा कहा गया है। ऋग्वेद में सप्त-सैन्धव प्रदेश की 7 नदियां सिन्धु (हिरण्यनी), सरस्वती, वितस्ता (झेलम), अस्कनी (चेनाब), परूष्णी (रावी), विपासा (व्यास) तथा शतुद्रि (सतलज) थीं। साथ ही ऋग्वेद में 4 नदियों कुंभा (काबुल), क्रुमु (कुर्रम), गोमती (गोमल) व सुवास्तु (स्वात) का उल्लेख है। इनमें से वर्तमान में कुंभा व क्रुमु अफगानिस्तान में, जबकि गोमती व सुवास्तु पाकिस्तान में बहती है।

सम्पूर्ण वैदिक काल को प्रायः 2 भागों में विभाजित किया जाता है -

1) ऋग्वैदिक काल (1500 - 1000 ई. पू.)।

2) उत्तरवैदिक काल (1000 - 600 ई. पू.)।

□ ऋग्वैदिक काल का राजनीतिक जीवन

इस काल के राजनीतिक जीवन की जानकारी ऋग्वेद से प्राप्त होती है। ऋग्वैदिक काल की राजनीतिक व्यवस्था कबीलाई संरचना पर आधारित थी। आर्य कई कबीलों में बंटे हुए थे तथा उनका कोई स्थायी निवास नहीं था। यद्यपि ऋग्वेद में गणतंत्र का प्रारंभिक उल्लेख मिलता है, किन्तु इस काल में राजनीतिक व्यवस्था का लोकप्रिय स्वरूप **राजतंत्रात्मक** था। **राजा** का राज्याभिषेक होता था, किन्तु उसकी पहचान उसके कबीले के साथ होती थी। इसी कारण राजा को जनस्यगोपा कहा जाता था। इस काल में न तो राष्ट्र जैसी संकल्पना का विकास हुआ था और न ही राजा के पद का दैवीकरण। राजा के मुख्यतः 2 कर्तव्य थे - प्रथम, युद्ध में सेना का नेतृत्व करना एवं द्वितीय, कबीले के लोगों की रक्षा करना। किन्तु इस काल में राजा निरंकुश नहीं, बल्कि प्रजाहितैषी होता था, क्योंकि -

1) इस काल में राजा को कोई नियमित कर प्राप्त नहीं होता था। यद्यपि बलि नामक कर का उल्लेख मिलता है, किन्तु यह एक स्वैच्छिक कर था।

2) इस काल में स्थायी सेना का निर्माण नहीं हुआ था।

3) राजा की शक्ति पर अंकुश लगाने वाली कुछ कबीलाई संस्थाएं, जैसे - सभा, समिति एवं विदथ होती थीं।

यद्यपि प्रायः राजा का पद वंशानुगत था, फिर भी समिति के सदस्य राजा के निर्वाचन में भाग लेते थे। समिति समस्त आम जनता की संस्था थी। इसकी तुलना वर्तमान की लोकसभा से की जा सकती है। सभा मुख्यतः न्यायिक कार्यों से संबंधित थी, जिसमें कुलीन एवं श्रेष्ठजन भाग लेते थे। इसकी तुलना वर्तमान की राज्यसभा से की जा सकती है। जबकि विदथ आर्यों की प्राचीन संस्था थी, जो कि सैनिक, असैनिक एवं धार्मिक कार्यों से संबंधित थी।

ऋग्वैदिक काल में **प्रशासन की** सबसे बड़ी **इकाई** जन थी, जिसके प्रमुख को जनस्यगोपा (राजा को) कहा जाता था। जन का विभाजन विश में, विश का विभाजन ग्राम में एवं ग्राम का विभाजन कुल/गृह में होता था। विश, ग्राम एवं कुल/गृह के प्रमुख को क्रमशः विशपति, ग्रामिणी एवं कुलप/गृहपति कहा जाता था।

इस काल में राजा की सहायता हेतु कुछ **प्रशासनिक अधिकारियों** का भी उल्लेख प्राप्त होता है, जैसे - पुरोहित, सेनानी, विशपति, ग्रामिणी, कुलप, सूत (रथकार), स्पर्श (गुप्तचर), पुरप (दुर्ग रक्षक) आदि। ये समस्त अधिकारी रक्त-संबंध से ही जुड़े हुए थे।

ऋग्वैदिक काल में **न्यायिक प्रशासन** के संबंध में सबसे कम जानकारी प्राप्त होती है। संभवतः न्याय का सर्वोच्च अधिकारी राजा होता था, जो कि पुरोहित एवं सभा के सदस्यों की सहायता से न्याय करता था। इस काल में सबसे बड़ा अपराध पशु चोरी, जबकि अन्य अपराध संधमारी, हत्या आदि थे। दण्ड के रूप में शतदाय एवं वरदेय (बदला) प्रथा प्रचलित थी। उच्च श्रेणी के व्यक्ति की हत्या का दण्ड 100 गायों के रूप में लिया जाता था, जिसे शतदाय कहते थे।

ऋग्वैदिक काल में **सैनिक प्रशासन** की भी कम जानकारी प्राप्त होती है, क्योंकि **स्थायी सेना** का अभाव था। युद्ध के समय नागरिक सेना की व्यवस्था कर ली जाती थी, जिसे मिलिशिया कहा जाता था।

□ उत्तरवैदिक काल का राजनीति जीवन

इस काल के राजनीतिक जीवन की जानकारी सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण, अरण्यक एवं उपनिषद ग्रंथों से प्राप्त होती है। उत्तरवैदिक काल की राजनीतिक व्यवस्था में हमें निरंतरता एवं परिवर्तन दोनों के तत्व दिखाई देते हैं। इस काल में भी राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप **राजतंत्रात्मक** था, किन्तु **राजा** की शक्तियों में कुछ वृद्धि हो गई थी। इस काल में राज्याभिषेक के अलावा कुछ अन्य यज्ञ

भी राजा पद के साथ जुड़ गए थे, जैसे - राजसूय यज्ञ व वाजपेय यज्ञ। अब राजा की पहचान उसके कबीले के अतिरिक्त भूमि क्षेत्र से भी की जाने लगी थी। इस काल में राजा के पद का अंशतः दैवीकरण भी हो गया था। एतरेय ब्राह्मण में राजत्व की अवधारणा का प्रारंभिक उल्लेख प्राप्त होती है। अब राजा भारी-भरकम उपाधियां भी धारण करने लगा था, जैसे - सर्वजनित, सर्वभूमिपति, एकराट आदि। इस काल में भी राजा के मुख्यतः 2 कर्तव्य थे - प्रथम, युद्ध में सेना का नेतृत्व करना एवं द्वितीय कबीले की रक्षा करना। किन्तु अब युद्ध मुख्यतः गायों के लिए नहीं, बल्कि उपजाऊ क्षेत्र में अधिकार करने के लिए होने लगे, उदाहरणार्थ - दशरज्ञ युद्ध। उत्तरवैदिक काल में भी राजा निरंकुश नहीं, बल्कि प्रजाहितैषी ही होता था, क्योंकि -

- 1) इस काल में राजा को यद्यपि शुल्क एवं भाग नामक नियमित कर प्राप्त होने लगे थे, किन्तु इनकी मात्रा बहुत कम (उत्पादन का 1/16) होती थी।
- 2) इस काल में भी स्थायी सेना का निर्माण नहीं हुआ था।
- 3) इस काल में भी राजा की शक्ति पर अंकुश लगाने वाली कुछ संस्थाएं, जैसे - सभा एवं समिति होती थीं। यद्यपि ऋग्वैदिक काल की तुलना में उत्तरवैदिक काल में इनका महत्व कम हो गया था।

उत्तरवैदिक काल में प्रशासन की सबसे छोटी इकाई कुल ही थी। कुल के ऊपर ग्राम, ग्राम के ऊपर विश, विश के ऊपर जन एवं जन के ऊपर जनपद नामक प्रशासनिक इकाई होती थी। उत्तरवैदिक काल में जनो के मिलने से जनपद का निर्माण हो गया था, उदाहरणार्थ - पुरू व भरत जन के मिलने से कुरू नामक जनपद और तुर्वश व क्रिवि जन के मिलने से पांचाल नामक जनपद का निर्माण।

उत्तरवैदिक काल में प्रशासनिक अधिकारियों की संख्या में वृद्धि दिखाई देती है। इस काल में ऋग्वैदिककालीन प्रशासनिक अधिकारियों के अतिरिक्त कुछ नवीन अधिकारियों की जानकारी प्राप्त होती है, जैसे - संग्रहीता (कोषाध्यक्ष), भागदुध (कर संग्रहकर्ता), अक्षवाप (द्यूत-क्रीड़ा में राजा का मित्र), पालागल (वन का अधिकारी) आदि।

इस काल में भी न्यायिक प्रशासन के विषय में अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती है। संभवतः न्याय का सर्वोच्च अधिकारी राजा होता था, जो कि पुरोहित एवं सभा के सदस्यों की सहायता से न्याय करता था। इस काल में अपराध सिद्धि के लिए जल परीक्षा एवं अग्नि परीक्षा प्रचलित थी। दण्ड विधान ऋग्वैदिक काल के ही अनुरूप थे।

उत्तरवैदिक काल में भी सैनिक प्रशासन की कम जानकारी प्राप्त होती है, क्योंकि इस काल में भी स्थायी सेना का निर्माण नहीं हुआ था। युद्ध के समय कबीलों के वयस्कों को सेना में भर्ती कर लिया जाता था। ऐसी सेना को मिलिशिया कहा जाता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तरवैदिक काल में यद्यपि राजा के अधिकारों में वृद्धि हुई, किन्तु अभी भी वह निरंकुश नहीं हो सकता था। सभा एवं समिति का अस्तित्व बना हुआ था, किन्तु उनके अधिकारों में कमी दिखाई देती है। प्रशासनिक अधिकारियों की संख्या में भी वृद्धि अवश्य हुई थी, किन्तु अभी भी ये अधिकारी रक्त-संबंध से ही जुड़े हुए थे। इस काल में यद्यपि प्रशासन की सबसे बड़ी इकाई के रूप में जनपद का उल्लेख मिलता है, किन्तु सबसे छोटी इकाई कुल ही मानी जाती थी। साथ ही इस काल में भी न्यायिक प्रशासन पूर्व के समान ही बना रहा एवं स्थायी सेना का भी निर्माण नहीं हो सका था।

□ ऋग्वैदिक काल का सामाजिक जीवन

इस काल के सामाजिक जीवन की जानकारी ऋग्वेद से प्राप्त होती है। ऋग्वैदिक काल का सामाजिक जीवन रक्त-संबंध पर आधारित था, जिसका स्वरूप कबीलाई था। ऋग्वैदिक समाज समतामूलक समाज था। इसमें छूआछूत एवं जाति प्रथा का प्रचलन नहीं था। प्रायः सभी आर्य लोगों की सामाजिक स्थिति एक समान थी।

ऋग्वैदिक समाज में वर्ण व्यवस्था प्रचलित थी। वर्ण व्यवस्था का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद के 10वें मण्डल के पुरूषसूक्त में मिलता है। सम्पूर्ण समाज ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्व एवं शूद्र वर्ण में विभाजित था। किन्तु इस काल में वर्ण व्यवस्था जन्म पर नहीं, बल्कि कर्म पर आधारित थी। उदाहरणार्थ - विश्वामित्र के पूर्वजों ने कई राज्यों की स्थापना की थी, अर्थात् - विश्वामित्र जन्म से क्षत्रीय वर्ण के थे, किन्तु अपने कर्मों से वे ऋषी, अर्थात् - ब्राह्मण वर्ण के माने गए।

ऋग्वैदिक समाज पितृ-सत्तात्मक समाज था, परिवार में पुरूष मुखिया का पूर्ण नियंत्रण था। उसे परिवार के अन्य सदस्यों के नियमन व नियंत्रण का अधिकार था। किन्तु सामान्यतः परिवार का मुखिया क्षमाशील एवं करुणाशील होता था। इस काल में संयुक्त परिवार का प्रचलन था। नाना, दादा, नाती, पोते आदि सभी के लिए एक ही सम्बोधन नप्तु का प्रयोग किया जाता था।

ऋग्वैदिक समाज यद्यपि पुरुष प्रधान था, किन्तु **स्त्रियों की दशा** अच्छी थी। स्त्रियों को सभा, समिति व विदथ में भाग लेने का अधिकार था। उन्हें उपनयन संस्कार एवं शिक्षा प्राप्त करने का भी अधिकार था। इस काल में कुछ विदुषी स्त्रियों, जैसे - लोपामुद्रा, घोषा, विश्वारा, सिक्ता आदि ने ऋग्वैद के कुछ ऋचाओं की रचना भी की थी। इस काल में समाज में पुनर्विवाह, बहुपति विवाह, नियोग प्रथा आदि का प्रचलन था, जबकि अनेक कुरीतियों, जैसे - बाल विवाह, दहेज प्रथा, पर्दा प्रथा, सती प्रथा आदि का प्रचलन नहीं था।

इस काल में **दास प्रथा** भी विद्यमान थी। ऋग्वेद में पुरुष एवं स्त्री दासों का उल्लेख है। युद्ध में बंदी बनाए गए लोगों को एवं ऋण न चुकाने वाले व्यक्ति को दास बना लिया जाता था। किन्तु इस काल में दासों की स्थिति बेहतर थी, क्योंकि उन्हें केवल घरेलू कार्यों में लगाया जाता था, कृषि कार्यों में नहीं।

ऋग्वैदिक काल में **विवाह** को एक पवित्र संस्कार माना जाता था। प्रायः 2 प्रकार के विवाह होते थे - अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह, किन्तु समाज में अनुलोम विवाह को ही मान्यता प्राप्त थी। ऋग्वैदिक काल में **शिक्षा** मौखिक रूप से दी जाती थी। इस काल में अलग-अलग वर्णों को अलग-अलग पाठ्यक्रम की शिक्षा दी जाती थी।

ऋग्वैदिककालीन **खान-पान** में शाकाहारी एवं मांसाहारी दोनों प्रकार के भोजन का प्रचलन था। भोजन में दूध, दही एवं घी का विशेष महत्व था। आर्यों का सबसे प्रिय भोजन क्षीरपकोदन माना जाता है। इस काल में अनाज के रूप में केवल यव (जौ) के सेवन का उल्लेख प्राप्त होता है। मांसाहारी भोजन में मुख्यतः भेड़, बक्री के मांस का सेवन किया जाता था, किन्तु गाय का मांस निषिद्ध था। ऋग्वेद में सुरापान की निन्दा, जबकि सोम पान की प्रशंसा की गई है।

ऋग्वैदिककालीन **पहनावा** में सूती एवं ऊनी दोनों प्रकार के वस्त्रों का उपयोग किया जाता था। इस काल में **मनोरंजन के साधन** मुख्यतः शिकार करना, पासा खेलना, जानवरों को लड़ाना आदि थे।

□ उत्तरवैदिक काल का सामाजिक जीवन

इस काल के सामाजिक जीवन की जानकारी सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण, अरण्यक एवं उपनिषद ग्रंथों से प्राप्त होती है। उत्तरवैदिक काल के समाज में भी निरंतरता एवं परिवर्तन के तत्व दिखाई देते हैं। इस काल में भी सामाजिक जीवन **वर्ण-संबंध** पर आधारित था, किन्तु समाज का कबीलाई ढांचा टूटने लगा था। उत्तरवैदिक समाज भी **समतामूलक** समाज था। इस काल में भी छूआछूत एवं अस्पृश्यता का प्रचलन नहीं था।

उत्तरवैदिक समाज में भी **वर्ण व्यवस्था** प्रचलित थी। इस काल में वर्ण व्यवस्था पूर्णतः स्थापित हो चुकी थी। सम्पूर्ण समाज ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्व एवं शूद्र वर्ण में विभाजित था। किन्तु इस काल में शूद्रों की स्थिति में गिरावट आई। उन्हें उपनयन संस्कार व शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त नहीं था। शूद्रों को अन्यस्यप्रेष्यः (तीनों वर्णों का सेवक) कहा जाता है। इस काल में भी वर्ण व्यवस्था जन्म पर नहीं, बल्कि कर्म पर आधारित थी।

उत्तरवैदिक समाज भी **पितृ-सत्तात्मक** समाज था, किन्तु इस काल में परिवार के मुखिया के अधिकारों में वृद्धि हुई। वह पुत्र को उत्तराधिकार से वंचित कर सकता था। इस काल में भी मुख्यतः **संयुक्त परिवार** का प्रचलन था।

उत्तरवैदिक समाज में भी वर्तमान की तुलना में **स्त्रियों की दशा** अच्छी थी। इस काल में भी उन्हें पुनर्विवाह, बहुपति विवाह व नियोग प्रथा का अधिकार था। इस काल में भी कुछ विदुषी स्त्रियों का उल्लेख मिलता होता है, जैसे - मैत्रेयी, कात्यायनी एवं गार्गी। किन्तु ऋग्वैदिक काल की तुलना में उत्तरवैदिक काल में स्त्रियों की दशा में गिरावट आई। अब उन्हें उपनयन संस्कार एवं सभा में भाग लेने का अधिकार नहीं रहा। इस काल में बाल विवाह भी होने लगे। यहां तक कि मैत्रायणी संहिता में स्त्रियों की तुलना पासा व सुरा जैसी बुराइयों से की गई है। उन्हें सम्पत्ति का अधिकार तो ऋग्वैदिक काल में भी प्राप्त नहीं था।

उत्तरवैदिक काल में भी **दास प्रथा** प्रचलित थी। इस काल में भी दासों को केवल घरेलू कार्यों में लगाया जाता था, कृषि कार्यों में नहीं। इस काल में भी **विवाह** को एक पवित्र संस्कार माना जाता था तथा समाज में अनुलोम विवाह को ही मान्यता प्राप्त थी। इस काल में भी शिक्षा मौखिक रूप से ही दी जाती थी तथा अलग-अलग वर्ण के लिए अलग-अलग पाठ्यक्रम का प्रावधान था।

इस काल के **खान-पान** में भी शाकाहारी एवं मांसाहारी भोजन दोनों का प्रचलन था, किन्तु अब आर्य यव (जौ) के साथ-साथ गेहूं, चावल, उड़द, नमक एवं मछली का सेवन भी करने लगे थे। इस काल में भी गाय का मांस निषिद्ध था। इस काल में भी आर्यों का **पहनावा एवं मनोरंजन के साधन** ऋग्वैदिक काल के समान ही था।

उत्तरवैदिक काल एक महत्वपूर्ण विशेषता थी कि **गोत्र-बहिर्गमन** का प्रचलन। यद्यपि गोत्र शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद में हुआ है, किन्तु व्यवस्थित रूप से गोत्र प्रथा उत्तरवैदिक काल में स्थापित हुई। इस काल में ब्राह्मणों द्वारा अपने यजमानों को भी गोत्र-बहिर्गमन किया जाना लगा था। इस काल में **आश्रम व्यवस्था** पूर्णतः स्थापित नहीं हुई थी, क्योंकि हमें सर्वप्रथम जवाली उपनिषद में ही चारों आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रम) का उल्लेख प्राप्त होता है।

इस प्रकार उत्तरवैदिक काल के सामाजिक जीवन में जहां ऋग्वैदिक काल की कुछ विशेषताएं दिखाई देती हैं, वहीं कुछ परिवर्तन के तत्व भी दिखाई देते हैं। वस्तुतः निरंतरता एवं परिवर्तन के यही तत्व सभ्यता के विकास के साथ-साथ विकसित होते गए तथा आगे चलकर आधुनिक सामाजिक प्रमुख मान्यताएं बन गए।

□ ऋग्वैदिक काल का आर्थिक जीवन

इस काल के आर्थिक जीवन की जानकारी ऋग्वेद से मिलती है। ऋग्वैदिक काल की अर्थव्यवस्था निर्वाह एवं ग्रामीण अर्थव्यवस्था थी। चूंकि आर्यों का प्रारंभिक जीवन अस्थायी था, अतः इस काल में कृषि की अपेक्षा **पशु पालन** का अधिक महत्व था। इस काल में गाय, भेड़, बकरी, घोड़ा, ऊँट, कुत्ता आदि का पालन किया जाता था। पशु पालन में सर्वाधिक महत्व गाय का था। जीवन से जुड़े विभिन्न क्षेत्रों की अभिव्यक्ति गाय के माध्यम से की जाती थी, जैसे - राजा को गोपति, युद्ध को गविष्ठी, समय को गोधुली, दूरी को गवयतु, पुत्री को दुहिता कहा जाता था। गाय को अघन्या (वध न करने योग्य) कहा जाता था।

ऋग्वैदिक काल में पशु पालन की तुलना में **कृषि** का स्थान गौण था, क्योंकि इस काल में आर्य स्थायी रूप से निवास नहीं करते थे। ऋग्वेद में केवल एक ही अनाज यव (जौ) का उल्लेख मिलता है। खेतों में हल (लांगल) से जुताई की जाती थी एवं खाद (करीषु) का भी प्रयोग किया जाता था। सिंचाई मुख्यतः वर्षा जल, तालाब या कुओं से की जाती थी।

इस काल में **वाणिज्य-व्यापार** सीमित मात्रा में प्रचलित था। आन्तरिक व्यापार के साक्ष्य तो प्राप्त होते हैं, किन्तु बाह्य व्यापार के नहीं। आन्तरिक व्यापार में यातायात के साधनों के रूप में इक्का गाड़ी एवं बैल गाड़ी का उपयोग किया जाता था। वाणिज्य व्यापार मुख्यतः वस्तु विनिमय प्रणाली पर आधारित था। इस काल में नियमित सिक्कों का प्रचलन प्रारंभ नहीं हुआ था। यद्यपि ऋग्वेद में निष्क की चर्चा की गई है, किन्तु निष्क से तात्पर्य मुद्रा नहीं, बल्कि तौल की इकाई या सोने का आभूषण था।

ऋग्वैदिक काल में सीमित स्तर में **उद्योग-धंधे** भी प्रचलित थे। इस काल में वस्त्र उद्योग बर्दई, रथकार, चर्मकार, कुम्हार आदि शिल्पियों का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में धातुओं में सोना, ताँबा व काँसा का उल्लेख मिलता है, किन्तु लोहा व चांदी का नहीं।

इस काल में चूंकि निर्वाह अर्थव्यवस्था थी, अतः अभी **नगरों का विकास** नहीं हुआ था। प्रशासन की सबसे बड़ी इकाई जन थी।

□ उत्तरवैदिक काल का आर्थिक जीवन

इस काल के आर्थिक जीवन की जानकारी सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण, अरण्यक एवं उपनिषद ग्रंथों से प्राप्त होती है। इस काल की अर्थव्यवस्था भी निर्वाह एवं ग्रामीण अर्थव्यवस्था थी। किन्तु इस काल में चूंकि आर्य स्थायी रूप से निवास करने लगे थे, अतः अर्थव्यवस्था में **पशु पालन** की अपेक्षा कृषि का महत्व बढ़ गया था। हालांकि पशु पालन अभी भी आर्यों का द्वितीयक पेशा बना हुआ था। आर्य इस काल में कुछ नवीन पशुओं से भी परिचित हो गए थे, जैसे - हाथी एवं बाघ।

उत्तरवैदिक काल में आर्यों का प्रमुख पेशा **कृषि** हो गया था। इस काल में जौ के अतिरिक्त गेहूं, चावल, उड़द, सरसों, अलसी, गन्ना का उत्पादन भी होने लगा था। अब सिंचाई साधनों के रूप में नेहरों (कुल्या) का प्रयोग भी किया जाने लगा था। हालांकि आर्य 1000 ई. पू. में लोहे से परिचित हो गए थे, किन्तु अभी लोहे का उपयोग कृषि में नहीं, बल्कि युद्धास्त्रों के रूप में ही किया जाता था।

इस काल के **वाणिज्य-व्यापार** में कुछ वृद्धि हुई। ऋग्वैदिक काल के समान इस काल में भी आन्तरिक व्यापार फलता-फूलता रहा। उत्तरवैदिक आर्यों को समुद्र का ज्ञान हो गया था। इस आधार पर माना जाता है कि इस काल में सीमित मात्रा में विदेशी व्यापार भी होता था। अभी भी वाणिज्य-व्यापार में वस्तु विनिमय प्रणाली प्रचलित थी। मुद्राओं का नियमित प्रचलन नहीं हुआ था। यद्यपि निष्क, शतमान, पाद तथा कृष्णल का उल्लेख मिलता है, किन्तु इनका प्रयोग मुद्रा के रूप में नहीं, बल्कि माप के इकाई के रूप में होता था।

उत्तरवैदिक काल के **उद्योग-धंधों** में वृद्धि हुई। इस काल में कुछ नवीन धातुओं एवं उससे जुड़े उद्योगों की भी जानकारी प्राप्त होती है, जैसे - लोहा एवं चांदी। इस काल में **नगरों का विकास** प्रारंभ हो गया था। सर्वप्रथम तैत्तरीय अरण्यक में नगरों के रूप में हस्तिनापुर व कौशाम्बी का उल्लेख मिलता है, किन्तु ये विकासशील नगर थे। इन्हें आद्य नगरीय स्थल ही कहा जा सकता है।

इस प्रकार यद्यपि उत्तरवैदिक काल की अर्थव्यवस्था में ऋग्वैदिक काल की तुलना में सुधार हुआ, किन्तु कुल मिलाकर इस काल में भी अर्थव्यवस्था का स्वरूप निर्वाह एवं ग्रामीण ही बना रहा।

□ ऋग्वैदिक काल का धार्मिक जीवन

इस काल के धार्मिक जीवन की जानकारी ऋग्वेद से प्राप्त होती है। ऋग्वैदिककालीन धर्म, धर्म के विकास की आरंभिक अवस्था को इंगित करता है। इसके अन्तर्गत मनुष्य प्रकृति के जिन नियमों एवं शक्तियों को नहीं समझ सका, उसका उसने दैवीकरण कर दिया। इस प्रकार ऋग्वैदिक धर्म का स्वरूप प्रकृतिवादी थी। यही कारण है कि इस काल में हमें वर्षा के देवता इन्द्र, अग्नि के देवता अग्नि, वायु के देवता वायु आदि का उल्लेख मिलता है। इनमें से आर्यों के सबसे महत्वपूर्ण देवता इन्द्र थे। इन्द्र को युद्ध का देवता एवं पुरंदर (दुर्गो को तोड़ने वाला) भी कहा जाता था। इन्द्र के सम्मान में ऋग्वेद में सर्वाधिक 250 सूक्त हैं। वरुण देवता को ऋतस्यगोपा कहा जाता था, जिसका अर्थ है – नैतिक आचरण का संरक्षक।

ऋग्वैदिककालीन धर्म में पुरुष भाव की प्रधानता दिखाई देती है। इस काल में पुरुष देवताओं की तुलना में स्त्री देवियों का द्वितीयक महत्व था। उदाहरणार्थ – ऋग्वेद में वर्णित है कि इन्द्र ने विपासा नदी के किनारे उषा के रथ के टुकड़े-टुकड़े कर दिए। इसका प्रतिक्रात्मक अर्थ था – पुरुष देवताओं की तुलना में स्त्री देवियों की निम्न स्थिति।

इस काल के धर्म में बहुदेववाद के साक्ष्य प्राप्त होते हैं। आर्य एक से अधिक देवी-देवताओं में विश्वास करते थे। हालांकि इस काल के अंतिम चरण में हमें एकेश्वरवाद के दर्शन भी दिखाई देने लगते हैं। ऋग्वेद में उल्लेखित है कि सत्य एक ही है, भले ही उसके नाम अलग-अलग हैं।

ऋग्वैदिक धर्म में स्थान विशेष के आधार पर देवताओं का वर्गीकरण किया गया था, जैसे – पृथ्वी के देवता : अग्नि, सोम, पृथ्वी आदि, अन्तरिक्ष के देवता : इन्द्र, वायु, मरुद आदि एवं आकाश के देवता : द्यौ, वरुण, मित्र आदि।

इस काल के धर्म में यद्यपि कर्मकाण्डों का प्रचलन प्रारंभ हो गया था, किन्तु अभी आराधना की मुख्य रीति प्रार्थनाएं एवं स्तुति पाठ करना था। इस काल में धार्मिक क्रिया-कलापों का उद्देश्य पारलौकिक सुख की प्राप्ति नहीं, वरन् भौतिक सुख की प्राप्ति था। ऋग्वेद में हमें स्वर्ग, नरक, मोक्ष, आत्मा आदि के स्पष्ट साक्ष्य प्राप्त नहीं होते हैं।

□ उत्तरवैदिक काल का धार्मिक जीवन

इस काल के धार्मिक जीवन की जानकारी सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण, अरण्यक एवं उपनिषद ग्रंथों से प्राप्त होती है। उत्तरवैदिक काल के धर्म में भी निरन्तरता एवं परिवर्तन दोनों के तत्व दिखाई देते हैं, किन्तु यहां परिवर्तन के तत्व ही अधिक महत्वपूर्ण हैं। उत्तरवैदिक धर्म में मुख्यतः 3 परिवर्तन हुए – देवताओं की महत्ता में परिवर्तन, आराधना की रीति में परिवर्तन एवं धार्मिक उद्देश्यों में परिवर्तन।

उत्तरवैदिक काल में प्रजापति को सर्वोच्च स्थान प्राप्त हो गया। रुद्र एवं विष्णु का महत्व भी बढ़ गया, जबकि वरुण एवं पूषण का महत्व कम हो गया। इस काल में यद्यपि मूर्ति पूजा का आभास मिलता है, किन्तु वास्तविक अर्थ में मूर्ति पूजा का प्रचलन गुप्तकाल में ही माना जाता है।

उत्तरवैदिक काल में आराधना की रीति में स्तुति पाठ व प्राथनाओं की जगह यज्ञों का महत्व बढ़ गया था। यज्ञों में शुद्ध उच्चारण का विशेष महत्व था तथा बड़े पैमाने में पशु बलि दी जाती थी। इस काल में प्रचलित महत्वपूर्ण यज्ञ थे – राजसूय यज्ञ (राजा के राज्याभिषेक से सम्बंधित), अश्वमेध यज्ञ (साम्राज्य विस्तार हेतु), वाजपेय यज्ञ (रथ दौड़ का आयोजन) आदि।

इस काल में धार्मिक उद्देश्यों में भी हमें परिवर्तन दिखाई देता है। अब लौकिक के साथ-साथ पारलौकिक उद्देश्य भी महत्वपूर्ण हो गए। इसी काल में सर्वप्रथम शतपथ ब्राह्मण में पुनर्जन्म तथा उपनिषदों में ब्रह्म, आत्मा एवं मोक्ष का उल्लेख मिलता है।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि उत्तरवैदिक काल के धर्म में कुछ ऐसे महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए, जिसने वर्तमान काल के धर्म का स्वरूप निश्चित कर दिया था। साथ ही इस काल के यज्ञों में अत्यधिक मात्रा में पशु बलि दिए जाने के कारण शीघ्र ही इनके विरुद्ध कुछ धार्मिक सम्प्रदायों, जैसे – बौद्ध एवं जैन सम्प्रदाय का उद्भव संभव हो सका।

छठी सदी ई. पू. से तीसरी सदी ई. पू. तक का इतिहास

छठी सदी ई. पू. से तीसरी सदी ई. पू. के मध्य घटित महत्वपूर्ण घटनाओं के अन्तर्गत महाजनपद काल, यूनानी आक्रमण एवं जैन व बौद्ध धर्म का अध्ययन किया जाता है।

महाजनपद काल

लगभग छठी शताब्दी ई. पू. में गंगा-यमुना दोआब एवं बिहार में 16 महाजनपदों का अस्तित्व दिखाई देता है। इतिहासकार गार्डन चाइल्ड ने इसे भारत की द्वितीय नगरीय क्रांति कहा गया है। बौद्ध ग्रंथ अंगुत्तर निकाय एवं जैन ग्रंथ भगवती सूत्र में 16 महाजनपदों का उल्लेख मिलता है। इनका वर्णन निम्नलिखित है -

- 1) अंग (वर्तमान में बिहार के भागलपुर व मुंगेर जिला) - अंग की राजधानी चम्पा थी। मगध के राजा बिम्बिसार ने अंग को मगध साम्राज्य में मिला लिया।
- 2) वज्जि (वर्तमान में बिहार राज्य) - वज्जि की राजधानी वैशाली थी, जिसे विश्व का प्रथम गणतंत्र भी माना जाता है।
- 3) मल्ल (वर्तमान में उत्तर प्रदेश व बिहार राज्य) - उत्तरी मल्ल की राजधानी कुशीनगर (उत्तर प्रदेश), जबकि दक्षिणी मल्ल की राजधानी पावा (बिहार) थी। कुशीनगर व पावा में क्रमशः महात्माबुद्ध तथा महावीर की मृत्यु हुई थी।
- 4) काशी (वर्तमान में उत्तर प्रदेश का बनारस जिला) - काशी की राजधानी वाराणसी थी। आगे कोसल के राजा कंस ने काशी को अपने राज्य में मिला लिया।
- 5) कोसल (वर्तमान में उत्तर प्रदेश का श्रावस्ती जिला) - उत्तरी कोसल की राजधानी श्रावस्ती/साकेत/अयोध्या/सहेत महेत थी, जबकि दक्षिणी कोसल की राजधानी कुशावती थी।
- 6) वत्स (वर्तमान में उत्तर प्रदेश का इलाहाबाद जिला) - वत्स की राजधानी कौशाम्बी थी। यहां का सबसे प्रमुख राजा उदयन था, जिसकी शत्रुता अवन्ति के राजा प्रद्योत से थी।
- 7) पांचाल (वर्तमान में उत्तर प्रदेश के बरेली, बदायूं व फर्रुखाबाद जिले) - उत्तरी पांचाल की राजधानी अहिच्छत्र, जबकि दक्षिणी पांचाल की राजधानी काम्पिल्य थी।
- 8) शूरसेन (वर्तमान में उत्तर प्रदेश का मथुरा जिला) - शूरसेन की राजधानी मथुरा थी।
- 9) कुरू (वर्तमान में मेरठ, दिल्ली व थानेश्वर का क्षेत्र) - कुरू की राजधानी इन्द्रप्रस्थ थी।
- 10) अवन्ति (वर्तमान में मध्य प्रदेश के उज्जैन व खरगौन जिले) - उत्तरी अवन्ति की राजधानी उज्जैन/उज्जयिनी/अवन्तिका, जबकि दक्षिणी अवन्ति की राजधानी महिष्मती/महेश्वर थी। बुद्धकालीन अवन्ति का राजा चण्डप्रद्योत था। चण्डप्रद्योत को पीलिया नामक रोग हो गया था, जिसके उपचार हेतु बिम्बिसार ने अपने राजवैद्य जीवक को भेजा था। आगे मगध सम्राट शिशुनाग ने अवन्ति को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया।
- 11) चेदि (वर्तमान में मध्य प्रदेश का बुन्देलखण्ड क्षेत्र) - चेदि की राजधानी सोत्थिवती/शक्तिमती थी। महाभारत काल में यहां का शासक शिशुपाल था, जिसका वध कृष्ण के द्वारा किया गया।
- 12) मत्स्य (वर्तमान में राजस्थान के जयपुर, अलवर व भरतपुर जिले) - मत्स्य की राजधानी विराटनगर थी।
- 13) अश्मक (वर्तमान में आन्ध्र प्रदेश राज्य) - अश्मक की राजधानी पोतना/पोटिल थी। 16 महाजनपदों में केवल अश्मक ही नर्मदा नदी के दक्षिण में गोदावरी के तट पर स्थित था।
- 14) गांधार (वर्तमान में पाकिस्तान के पेशावर व रावलपिण्डी का क्षेत्र) - गांधार की राजधानी तक्षशिला थी। इस जनपद का दूसरा प्रमुख नगर पुष्कलावती था।
- 15) कम्बोज (वर्तमान में पाकिस्तान व भारत का क्षेत्र) - कम्बोज की राजधानी राजपुर/हाटक थी।
- 16) मगध (वर्तमान में बिहार के पटना, गया व शाहाबाद जिले) - मगध की राजधानी अलग-अलग समय पर क्रमशः राजगृह, पाटलीपुत्र एवं वैशाली हुई, किन्तु अन्ततः पाटलीपुत्र स्थायी राजधानी बनी। मगध में छठी सदी ई. पू. में क्रमशः 3 वंशों के राजाओं ने शासन किया - हर्यक वंश (पितृहन्ता वंश), नाग वंश एवं नन्द वंश।

♦ **हर्यक वंश (पितृहन्ता वंश) - 544 ई. पू. से 412 ई. पू.**

इस वंश का संस्थापक बिम्बिसार था। जैन साहित्य में बिम्बिसार को श्रेणिक कहा गया है। बिम्बिसार ने राजगृह (गिरिब्रज) नामक नगर की स्थापना की तथा इसे अपनी राजधानी बनाई। राजगृह तीनों ओर से पहाड़ियों से घिरा हुआ था। बिम्बिसार ने विजयों व वैवाहिक सम्बंधों के द्वारा अपने वंश का विस्तार किया। इसने 3 राजवंशों में वैवाहिक संबंध स्थापित किए – प्रथम, लिच्छिवि गणराज्य के शासक चेटक की पुत्री चेलना के साथ विवाह किया। द्वितीय, कोसल नरेश प्रसेनजित की बहन महाकोशला से विवाह किया, जिससे दहेज में काशी का प्रान्त प्राप्त हुआ। तृतीय, मद्र देश (कुरु के समीप) की राजकुमारी क्षेमा से विवाह किया।

बिम्बिसार की हत्या इसके पुत्र अजातशत्रु ने कर दी। अजातशत्रु को कुणिक भी कहा जाता है। अजातशत्रु का कोसल नरेश प्रसेनजित से युद्ध हुआ, जिसमें पहले तो प्रसेनजित की हार हुई, परन्तु बाद में दोनों में समझौता हो गया। प्रसेनजित ने अपनी पुत्री वाजिरा का विवाह अजातशत्रु से कर दिया। अजातशत्रु का वज्जि संघ के साथ भी युद्ध हुआ, जिसमें उसने अपने कूटनीतिज्ञ मंत्री वत्सकार की सहायता से लिच्छिवियों की शक्ति पर विजय प्राप्त की। इस प्रकार काशी और वैशाली को मिला लेने के बाद मगध का साम्राज्य और विस्तृत हो गया। अजातशत्रु के शासनकाल के 8वें वर्ष में बुद्ध की मृत्यु हुई थी। अजातशत्रु के काल में राजगृह की सप्तपर्णि गुफा में प्रथम बौद्ध संगीति का आयोजन किया गया।

अजातशत्रु की हत्या इसके पुत्र उदयिन ने कर दी। उदयिन ने गंगा और सोन नदियों के संगम पर पाटलिपुत्र/कुसुमपुर नामक नगर की स्थापना की तथा राजगृह से अपनी राजधानी वहीं स्थानान्तरित की। उदयिन की हत्या एक व्यक्ति ने छुरा भोंक कर की। उदयिन के बाद उसके तीन पुत्रों अनिरुद्ध, मुण्डक और नागदशक (दर्शक) ने बारी-बारी से राज्य किया। बाद में जनता ने इन पितृहन्ताओं को शासन से हटाकर शिशुनाग नामक एक योग्य आमात्य को राजा बनाया।

♦ **नाग वंश - 412 ई. पू. से 344 ई. पू.**

शिशुनाग ने अवन्ति राज्य को जीतकर उसे मगध साम्राज्य में मिला लिया। शिशुनाग ने अपनी नई राजधानी वैशाली में स्थापित की थी। शिशुनाग का उत्तराधिकारी कालाशोक हुआ, जिसने अपनी राजधानी पुनः पाटलिपुत्र में स्थानान्तरित की तथा इसके बाद पाटलिपुत्र में ही मगध की राजधानी रही। कालाशोक के शासनकाल में वैशाली में द्वितीय बौद्ध संगीति का आयोजन हुआ। कालाशोक की हत्या किसी व्यक्ति ने छुरा भोंककर कर दी।

♦ **नन्द वंश - 344 ई. पू. से 324 ई. पू.**

शिशुनाग वंश के बाद मगध का राज्य नन्द वंश के हाथों में आ गया। महानन्दिन ने इस वंश का स्थापना की, परन्तु इसका वध एक शूद्र दासी पुत्र महापद्मनन्द ने कर दिया। महापद्मनन्द मगध साम्राज्य का सबसे शक्तिशाली शासक था। पुराणों में इसे एकछत्र/एकराट कहा गया है। इसके अतिरिक्त महापद्मनन्द की अन्य उपाधियां उग्रसेन, अपरोपरशुराम, सर्वक्षत्रांतक आदि थीं। महापद्मनन्द ने कलिंग की विजय की तथा वहां तिनसुलिया नामक नहर भी खुदवाई। इसका उल्लेख बाद में कलिंग के शासक खारवेल ने अपनी हाथी गुम्फा अभिलेख में किया है। इसी अभिलेख से पता चलता है कि महापद्मनन्द कलिंग से जिनसेन की जैन प्रतिमा उठा लाया था।

नन्द वंश का अंतिम शासक धनानन्द हुआ। धनानन्द के समय में ही 326 ई. पू. में सिकन्दर ने भारत में आक्रमण किया था। धनानन्द के पुरोहित चाणक्य ने चन्द्रगुप्त मौर्य की सहायता से धनानन्द को पराजित किया। इस प्रकार मगध में मौर्य वंश की स्थापना हुई।

छठी सदी ई. पू. के दौरान भारत के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। आगे इन परिवर्तनों ने भारत के इतिहास को एक नवीन दिशा प्रदान की। वस्तुतः ये समस्त परिवर्तन तत्कालीन जीवन की नवीन आवश्यकताओं के ही परिणाम थे। इन्हीं परिवर्तनों के कारण छठी सदी ई. पू. के इतिहास को प्राचीन भारतीय इतिहास में विशेष स्थान प्राप्त है।

□ छठी सदी ई. पू. की महत्वपूर्ण घटनाएं/परिवर्तन

- **राजनीतिक क्षेत्र की महत्वपूर्ण घटनाएं/परिवर्तन** - गणतंत्रों की स्थापना, 16 महाजनपदों/द्वितीय नगरीकरण का उदय, मगध का उत्कर्ष आदि।
- **आर्थिक क्षेत्र की महत्वपूर्ण घटनाएं/परिवर्तन** - कृषि उत्पादन में वृद्धि, नवीन शिल्प-उद्योगों का विकास, वाणिज्य-व्यापार में विस्तार, नियमित मुद्रा का प्रचलन, द्वितीय नगरीकरण का उदय आदि।
- **सामाजिक क्षेत्र की महत्वपूर्ण घटनाएं/परिवर्तन** - वर्ण व्यवस्था में परिवर्तन, जाति व्यवस्था एवं अस्पृश्यता का उद्भव, स्त्रियों व दासों की स्थिति में गिरावट आदि।
- **धार्मिक क्षेत्र की महत्वपूर्ण घटनाएं/परिवर्तन** - आश्रम व्यवस्था, पुरुषार्थ, 16 संस्कार, 8 प्रकार के विवाहों का प्रचलन, जैन व बौद्ध धर्म का उद्भव आदि।

□ राजनीतिक क्षेत्र

♦ गणतंत्रों की स्थापना

छठी सदी ई. पू. के राजनीतिक इतिहास की एक महत्वपूर्ण विशेषता गणतंत्रों की स्थापना थी। इस काल में राजनीतिक क्षेत्र में हमें राजतंत्रों के साथ-साथ कुछ गणतंत्रों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। इन गणतंत्रों की सूचना पाली ग्रंथों एवं यूनानी लेखकों से प्राप्त होती है। पाली ग्रंथों में 10 गणतंत्रों का उल्लेख किया गया है, जिनमें प्रमुख थे - वैशाली के लिच्छिवी, मिथिला के विदेह, कुशीनारा के मल्ल, पावापुरी के मल्ल, पिपलीवन के मोरिय, कपिलवस्तु के शाक्य आदि। उसी प्रकार सिकन्दरकालीन यूनानी लेखकों ने भी उत्तर-पश्चिमी भारत के कुछ गणतंत्रों का उल्लेख किया है, जिनमें प्रमुख थे - यौधेय, मालव, क्षुद्रक, अम्बष्ठ, कठ आदि।

विभिन्न ऐतिहासिक साक्ष्यों से यह ज्ञात होता है कि इन गणतंत्रों में शासक वर्ग का निर्वाचन जनता के द्वारा किया जाता था। प्रत्याशियों की न्यूनतम योग्यताएं निश्चित थीं। निर्वाचन में गुप्त मतदान पद्धति (शलाका पद्धति) की भी व्यवस्था थी। यहां तक कि प्रजा को निरंकुश एवं अक्षम राजा को उसके पद से हटाने का अधिकार भी प्राप्त था।

किन्तु यदि इन गणतंत्रों के स्वरूप एवं सफलता पर दृष्टिपात किया जाए, तो इनकी सीमाएं स्पष्ट हो जाती हैं। प्रथम, इन्हें वास्तविक अर्थ में गणतंत्र नहीं, बल्कि कुलीन तंत्र ही कहना उचित प्रतीत होता है। यद्यपि शासक वर्ग के चयन में जनता की प्रत्यक्ष भूमिका होती थी, लेकिन शासक वर्ग का चयन सदैव ही कुलीन एवं श्रेष्ठ वंश से ही किया जाता था। द्वितीय, कुछ गणतंत्र, जैसे - यौधेय, मालव, क्षुद्रक, अम्बष्ठ आदि हिमालय की तलहटियों में विकसित हुए थे। इससे इनका आर्थिक आधार अत्यंत कमजोर था तथा ये राजतंत्र के प्रसार का सामना नहीं कर सके। तृतीय, तत्कालीन साम्राज्यवादी युग में गणतंत्रात्मक पद्धति उचित नहीं थी, क्योंकि इस पद्धति के अंतर्गत निर्णय लेने में समय की अनुचित बर्बादी होती थी। यही कारण है कि इनमें से कोई भी गणतंत्र न तो अपने साम्राज्य का विस्तार कर सका और न ही अपने अस्तित्व को बचाए रख सका। हम देखते हैं कि शीघ्र ही कोशल एवं मगध के साम्राज्यवादी प्रसार ने इन गणतंत्रों के पतन की प्रक्रिया प्रारंभ कर दी और आगे गुप्तकाल में समुद्रगुप्त के अभियान के पश्चात् इन गणतंत्रों का अंत हो गया।

उपर्युक्त सीमाओं के बावजूद छठी सदी ई. पू. में स्थापित गणतंत्रों का प्राचीन भारतीय इतिहास में विशेष महत्व है। वस्तुतः इन गणतंत्रों ने वर्तमान भारत के लोकतंत्र की न केवल आधारशिला निर्मित कर दी, बल्कि इसकी कुछ अनिवार्य विशेषताएं भी निश्चित कर दीं।

♦ 16 महाजनपदों/द्वितीय नगरीकरण का उदय

छठी सदी ई. पू. के राजनीतिक इतिहास की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता- 16 महाजनपदों /द्वितीय नगरीकरण का उदय था। बौद्ध ग्रंथ अंगुत्तरनिकाय एवं जैन ग्रंथ भगवती सूत्र में 16 महाजनपदों का उल्लेख किया गया है, जिनमें प्रमुख थे - अंग, अवंति, काशी, कोशल, चेदी, मगध आदि।

16 महाजनपदों के उदय में लोहे की भूमिका को लेकर इतिहासकारों के मध्य विवाद है। डी. डी. कोसाम्बी एवं आर. एस. शर्मा जैसे इतिहासकारों ने द्वितीय नगरीकरण में लोहे की भूमिका को निर्णायक रूप में स्वीकार किया है। वहीं दूसरे पक्ष के इतिहासकारों जैसे - डी. के. चक्रवर्ती, निहार रंजन रे, अल्चीन आदि ने लोहे के प्रभाव को कम करके आंका है।

डी. डी. कोसाम्बी एवं आर. एस. शर्मा के अनुसार द्वितीय नगरीकरण में लोहे की ही सर्वप्रमुख भूमिका थी। उनका मानना है कि लौह उपकरणों की सहायता से मध्य गंगा घाटी के जंगलों को साफ कर कृषि योग्य भूमि का विस्तार किया गया। साथ ही कृषि उपकरणों जैसे - लोहे का फाल, कुदाल, हंसिया आदि के प्रयोग से बेहतर तरीके से खेती की जा सकी, परिणामस्वरूप कृषि उत्पादन में वृद्धि हुई। कृषि उत्पादन से आर्थिक समृद्धि आई, परिणामस्वरूप द्वितीय नगरीकरण का उदय हुआ।

दूसरी तरफ कुछ अन्य विद्वानों ने द्वितीय नगरीकरण में लोहे की भूमिका को कम करके आंका है। इन विद्वानों ने अपने मत के पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किए। प्रथम, पुरातात्विक उत्खनन में मध्य गंगा घाटी से लौह निर्मित कृषि उपकरण बहुत कम संख्या में मिले हैं। द्वितीय, पुरातात्विक उत्खनन में उत्तर भारत में लोहे का प्रारंभिक साक्ष्य 1000 ई. पू. के आस-पास अतरंजीखेड़ा (उत्तर प्रदेश) से प्राप्त होता है, यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि लोहे के प्रारंभिक साक्ष्य एवं द्वितीय नगरीकरण के प्रारंभ में 500 वर्षों से अधिक का समय क्यों लगा? तृतीय, दक्षिण भारत में महापाषाण काल (1000 ई. पू.) के लोगों ने लौह उपकरणों का प्रयोग आरंभ कर दिया था, किन्तु वहां नगरीकरण बहुत बाद में प्रारंभ हुआ। इन इतिहासकारों का यह मानना है कि लोहे का प्रारंभिक प्रयोग युद्धास्त्रों के रूप में ही किया गया था, जबकि कृषि उपकरणों के रूप में लोहे का प्रयोग सीमित मात्रा में ही हुआ।

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त इतिहासकारों का दूसरा वर्ग यह स्वीकार करता है कि द्वितीय नगरीकरण के उदय में राजनीतिक/प्रशासनिक, आर्थिक एवं धार्मिक कारकों की महत्वपूर्ण भूमिका थी। कुछ केन्द्रों जैसे - राजगृह, पाटलीपुत्र, चम्पा आदि का नगरों के रूप में उदय इसलिए संभव हो सका, क्योंकि ये राजधानी क्षेत्र थे। इन राजधानी क्षेत्रों में शासक वर्ग के लोग रहते थे, जिन्हें दूरस्थ क्षेत्रों से राजस्व प्राप्त होता था। इससे इन राजधानी क्षेत्रों में आर्थिक समृद्धि आई, परिणामस्वरूप इनका विकास नगरों के रूप में हो सका। वहीं कुछ नगरों के विकास में आर्थिक कारकों की भी भूमिका रही थी। तक्षशिला, बनारस, अवन्ति आदि का विकास नगरों के रूप में इसलिए हो सका, क्योंकि ये व्यापारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण केन्द्र थे। इनमें से तक्षशिला एवं बनारस व्यापारिक मार्ग में अवस्थित थे, जिससे इन्हें आर्थिक लाभ प्राप्त हुआ, जबकि बनारस एवं अवन्ति सूती वस्त्र के उत्पादन में अग्रणी क्षेत्र थे। साथ ही कुछ अन्य नगरों जैसे - श्रावस्ती, वैशाली, मथुरा आदि के विकास में धार्मिक कारकों की भी महत्वपूर्ण भूमिका थी। ये क्षेत्र धार्मिक गतिविधियों के केन्द्र थे, जिससे यहां चढ़ावे के रूप में धन का सकेन्द्रण होता गया। परिणामस्वरूप इनका विकास नगरों के रूप में संभव हो सका।

उपर्युक्त तथ्यों के विश्लेषण के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि द्वितीय नगरीकरण के उदय में यद्यपि लोहे की भूमिका को निर्णायक रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता है, किन्तु द्वितीय नगरीकरण में लोहे की कुछ ना कुछ भूमिका अवश्य रही होगी। लोहे की भूमिका न केवल कृषि उत्पादन में हुई वृद्धि में, बल्कि उसके संरक्षण में भी महत्वपूर्ण थी, किन्तु लोहे की भूमिका को अन्य सम्बद्ध कारकों से जोड़कर देखे जाने की आवश्यकता है। वस्तुतः इस काल में हमें इस बात के प्रमाण प्राप्त होते हैं कि जलवायु परिवर्तन की वजह से एक बड़ी जनसंख्या का प्रवास पश्चिम भारत से पूर्वी भारत की ओर हो रहा था। इस अतिरिक्त जनसंख्या के खाद्यान्न की समस्या ने भी मध्य गंगा घाटी के लोगों को अतिरिक्त उत्पादन के लिए प्रेरित किया होगा। यही कारण है कि छठी सदी ई. पू. में उत्पादन में वृद्धि हेतु सर्वप्रथम धान की रोपाई पद्धति को अपनाया गया एवं दासों को कृषि क्षेत्र में भी लगाया गया। यहां यह भी उल्लेखनीय है ऊपर उल्लेखित कुछ महत्वपूर्ण नगरों के विकास में राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक कारकों की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही होगी।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है द्वितीय नगरीकरण के उदय में लोहे की भूमिका को अन्य सम्बद्ध कारकों के साथ जोड़कर देखे जाने की आवश्यकता है। साथ ही द्वितीय नगरीकरण में राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक कारकों की भी अहम भूमिका रही होगी।

♦ मगध का उत्कर्ष

छठी सदी ई. पू. में राजनीतिक क्षेत्र में तीसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन मगध का उत्कर्ष था। प्रारंभ में मगध 16 महाजनपदों में से एक महाजनपद था, किन्तु धीरे-धीरे अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए मगध उत्तर भारत का सबसे महत्वपूर्ण राज्य बन गया। मगध के उत्कर्ष में अनेक कारकों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, जिनमें सर्वाधिक योगदान मगध की भौगोलिक स्थिति का है। मगध के उत्कर्ष के पीछे उत्तरदायी कारकों को निम्नलिखित बिन्दुओं के अंतर्गत समझा जा सकता है -

- 1) **भौगोलिक स्थिति एवं कृषि का विकास** - मगध का राज्य गंगा एवं ब्रह्मपुत्र नदियों द्वारा निर्मित विशाल उपजाऊ मैदान में स्थित था। साथ ही सम्पूर्ण राज्य में सदाबहार नदियों द्वारा सिंचाई की भी उत्तम व्यवस्था थी। इस कारण मगध राज्य में कृषि का अत्यधिक विकास हुआ। कृषि के विकास ने मगध राज्य के उत्कर्ष हेतु एक मजबूत आर्थिक आधार निर्मित कर दिया।
- 2) **भौगोलिक स्थिति एवं शिल्प-उद्योग का विकास** - मगध राज्य की भौगोलिक स्थिति ने उसके शिल्प-उद्योग के विकास में भी योगदान दिया। मगध राज्य में लोहे एवं अन्य महत्वपूर्ण धातुओं व खनिजों का प्रचुर भंडार था। इन धातुओं के प्रयोग ने अनेक नवीन शिल्प-उद्योगों के विकास में योगदान दिया। इससे मगध की अर्थव्यवस्था मजबूत हुई, परिणामस्वरूप उसकी सैन्य शक्ति में वृद्धि हुई।
- 3) **भौगोलिक स्थिति एवं वाणिज्य-व्यापार का विकास**- मगध की भौगोलिक स्थिति ऐसी थी, कि उत्तर भारत के प्रायः सभी व्यापारिक मार्ग यहां से होकर गुजरते थे। मगध को इन व्यापारिक मार्गों से होने वाले आंतरिक-व्यापार पर कर प्राप्त होता था। हम यह भी जानते हैं कि प्राचीन काल में भारत का चीन एवं दक्षिणीपूर्वी एशियाई देशों के साथ होने वाले व्यापार में ताम्रलिप्ति बंदरगाह का सर्वाधिक महत्व था। चूंकि ताम्रलिप्ति मगध साम्राज्य में स्थित था, इस कारण मगध को बाह्य व्यापार से भी आर्थिक लाभ प्राप्त हो सका। इस प्रकार आंतरिक व बाह्य व्यापार दोनों से प्राप्त आर्थिक लाभ ने मगध राज्य के उत्कर्ष में महत्वपूर्ण योगदान दिया।
- 4) **भौगोलिक स्थिति एवं सैन्य शक्ति का विकास** - मगध की विशिष्ट भौगोलिक स्थिति ने उसकी सैन्य शक्ति के विकास में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। चूंकि मगध में लोहे की अच्छी खदानें थी, इसलिए मगध युद्ध में लोहे के अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग कर अपने साम्राज्य का विस्तार कर सका। उसी प्रकार प्राचीन भारतीय इतिहास में केवल पूर्वी भारत के वनों में ही हाथी पाए जाते थे। चूंकि यह क्षेत्र मगध के अधिकार में था, अतः मगध एक बड़ी हस्तिसेना के प्रयोग से भी युद्धों में विजय प्राप्त कर सका। इसके अतिरिक्त मगध राज्य के पास प्रचुर मात्रा में वन-संसाधन भी उपलब्ध थे। वनों से प्राप्त मजबूत लकड़ी से अच्छे किस्म के रथों का निर्माण किया जा सका। साथ ही राजधानी पाटलीपुत्र को भी लकड़ी से बनी प्राचीर से सुरक्षित रखा जा सका।
- 5) **भौगोलिक स्थिति एवं सुरक्षा** - मगध की राजधानी क्रमशः राजगृह एवं पाटलीपुत्र दोनों को प्राकृतिक सुरक्षा प्राप्त थी। राजगृह पांच पहाड़ियों तथा पाटलीपुत्र तीन नदियों (गंगा, सोन, पुनपुन) से घिरा हुआ था। मगध की राजधानियों को प्राप्त प्राकृतिक सुरक्षा के कारण ही यहां के राजा बिना सुरक्षा की चिंता किए अपनी संपूर्ण शक्ति का प्रयोग साम्राज्य विस्तार हेतु कर सके। परिणामस्वरूप मगध का सर्वाधिक विस्तार संभव हो सका।
- 6) **भौगोलिक स्थिति एवं सामाजिक दृष्टिकोण** - मगध की भौगोलिक स्थिति ने यहां के सामाजिक दृष्टिकोण को भी निर्धारित किया। मगध आर्यों के प्रभाव क्षेत्र अर्थात् आर्यावर्त से बाहर स्थित था। इस कारण मगध राज्य में ब्राह्मणवादी मान्यताओं का प्रभाव बहुत कम था। यहां की वर्णाश्रम व्यवस्था में कठोरता न होने के कारण मगध राज्य में चारों वर्णों की जनता को सेना में भर्ती किया जा सका। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उल्लेख है कि मगध की सेना में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र सभी वर्ण के लोगों की नियुक्ति की जाती थी। इस कारण मगध की सेना सबसे बड़ी एवं शक्तिशाली हो सकी। इस शक्तिशाली सेना ने मगध राज्य के उत्कर्ष को संभव बनाया।

मगध राज्य में ब्राह्मणवादी मान्यताओं का प्रभाव कम होने के कारण यहां के लोग पारलौकिक जीवन की बजाय लौकिक जीवन को ही अधिक महत्व देते थे तथा अपनी ऊर्जा व समय को भौतिक विकास में निवेश करते थे। इस सकारात्मक दृष्टिकोण ने भी मगध के उत्कर्ष में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। साथ ही मगध में ब्राह्मणवादी मान्यताओं का अधिक प्रभाव न होने के कारण यहां बौद्ध एवं जैन धर्म का विकास संभव हो सका। इन दोनों धर्मों में जाति व्यवस्था का अभाव था, परिणामस्वरूप मगध में सामाजिक स्थिरता बनी रही। साथ ही इन दोनों धर्मों का पालन करने वाली यहां की जनता वैदिक कर्मकांडों की बजाय अपने सम्पूर्ण धन का निवेश शिल्प-उद्योग एवं वाणिज्य-व्यापार में कर सकीं। इस कारण भी मगध राज्य का चहुमुखी विकास संभव हो सका।

5) **मगध के शासकों का योगदान** - मगध राज्य के उत्कर्ष में यहां के शासकों ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। मगध को बिम्बिसार, आजातशत्रु, चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक जैसे योग्य एवं शक्तिशाली शासकों का नेतृत्व प्राप्त हुआ। इन शासकों ने मगध में न केवल केन्द्रीकृत प्रशासनिक तंत्र की स्थापना कर यहां आंतरिक स्थिरता बनाए रखी, बल्कि अपनी साम्राज्यवादी सोच एवं शक्तिशाली सेना से साम्राज्य विस्तार करने में भी सफलता प्राप्त की। बिम्बिसार की वैवाहिक संबंधों की नीति ने, आजातशत्रु व चन्द्रगुप्त मौर्य की साम्राज्यवादी नीति ने तथा अशोक की शांतिवादी नीति ने मगध के उत्कर्ष में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि मगध के उत्कर्ष में ऊपर उल्लेखित समस्त कारकों की महत्वपूर्ण भूमिका थी। यहां कि भौगोलिक स्थिति, प्रगतिशील जनता एवं योग्य व शक्तिशाली शासकों ने मगध के उत्कर्ष में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

□ आर्थिक क्षेत्र

छठी सदी ई. पू. में आर्थिक क्षेत्र में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए, जिन्हें निम्नलिखित बिन्दुओं अंतर्गत देखा जा सकता है -

♦ कृषि उत्पादन में वृद्धि

छठी सदी ई. पू. में कृषि उत्पादन में हुई वृद्धि के पीछे कई महत्वपूर्ण कारण थे, जैसे -

- 1) कृषि क्षेत्र में लौह उपकरणों का प्रयोग।
- 2) धान की रोपाई पद्धति का विकास।
- 3) दासों को कृषि क्षेत्र में लगाया जाना।
- 4) बौद्ध एवं जैन धर्म में पशु हत्या पर पाबंदी, आदि।

छठी सदी ई. पू. में ही सर्वप्रथम लौह उपकरणों का कृषि में प्रयोग किया गया, धान की रोपाई पद्धति को अपनाया गया एवं दासों को कृषि क्षेत्र में लगाया गया। इन समस्त कारणों से कृषि उत्पादन में वृद्धि हुई। साथ ही इस काल में जैन एवं बौद्ध धर्म का उद्भव हुआ। इन धर्मों ने वैदिक यज्ञों में दी जाने वाली पशु बलि की निंदा की। इससे कृषि क्षेत्र में आवश्यक पशुधन सुनिश्चित हो सका। इस प्रकार ऊपर उल्लेखित समस्त कारकों ने छठी सदी ई. पू. में कृषि के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

♦ शिल्प-उद्योग का विकास

छठी सदी ई. पू. में कृषि उत्पादन में हुई वृद्धि ने शिल्प-उद्योगों के विकास में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस काल में व्यापारियों ने अपने-अपने संगठन बना लिए थे, जिसे श्रेणी कहा जाता था। इन श्रेणियों ने शिल्प-उद्योगों के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ये श्रेणियां न केवल मापतोल के पैमाने, वस्तुओं का मूल्य आदि निश्चित करती थीं, बल्कि बैंकों का कार्य भी करती थीं। छठी सदी ई. पू. में हुए शिल्प-उद्योग के विकास का प्रमाण यह भी है कि इस काल के समकालीन स्रोतों में राजगृह में 18 प्रकार के शिल्पों का उल्लेख मिलता है, जिनमें प्रमुख थे - लोहार, बढ़ई, चर्मकार, रंगकार आदि।

♦ वाणिज्य-व्यापार का विकास

छठी सदी ई. पू. में कृषि उत्पादन में हुई वृद्धि एवं नवीन शिल्प-उद्योगों के विकास ने इस काल के वाणिज्य-व्यापार के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। आंतरिक व्यापार के विकास में नवीन मार्गों का महत्वपूर्ण योगदान था। इस काल में एक मार्ग प्रतिष्ठान (महाराष्ट्र), महिष्मति, उज्जैन, विदिशा, कौशाम्बी होते हुए साकेत (इलाहाबाद) तक जाता था, जबकि दूसरा मार्ग ताम्रलिप्ति, पाटलीपुत्र, श्रावस्ती, उज्जैन होते हुए भड़ौंच तक जाता था। उसी प्रकार बाह्य व्यापार के विकास में ताम्रलिप्ति, भड़ौंच, सुपारा आदि बंदरगाहों का प्रमुख योगदान था।

♦ नियमित मुद्रा एवं नगरीकरण

छठी सदी ई. पू. में ही हमें सर्वप्रथम नियमित सिक्कों (आहत मुद्रा) का प्रचलन दिखाई देता है। साथ ही इस काल में 16 महाजनपदों का भी नगरों के रूप में उदभव हुआ। ये दोनों तथ्य इस काल के विकसित वाणिज्य-व्यापार के प्रमाण हैं।

इस प्रकार छठी सदी ई. पू. में आर्थिक क्षेत्र में कुछ सकारात्मक परिवर्तन हुए, जिनने भविष्य की आर्थिक समृद्धि की आधारशिला निर्मित कर दी।

□ सामाजिक क्षेत्र

छठी सदी ई. पू. में सामाजिक क्षेत्र में भी कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए, जैसे -

♦ वर्णाश्रम व्यवस्था में तनाव

इस काल में वैदिक धर्म के अतिरिक्त जैन एवं बौद्ध धर्म का उद्भव हुआ। इन धर्मों ने परंपरागत वर्ण-व्यवस्था पर चोट की तथा एक नए रूप में वर्णों का विभाजित किया। बौद्ध ग्रंथों में वर्ण-व्यवस्था में प्रथम स्थान क्षत्रियों को, द्वितीय स्थान ब्राह्मणों को, तृतीय स्थान वैश्यों को एवं चतुर्थ स्थान शूद्रों को दिया गया है। किन्तु कुल मिलाकर समाज में परंपरागत वर्ण-व्यवस्था का ही प्रचलन था, जिसमें सर्वोच्च स्थान ब्राह्मण वर्ण को ही प्राप्त था।

♦ जाति व्यवस्था का उद्भव

परंपरागत वर्णाश्रम व्यवस्था के विरुद्ध उठने वाले स्वयं की प्रतिक्रिया में ब्राह्मणों ने परंपरागत वर्ण-व्यवस्था के बंधनों को और भी अधिक कठोर बना दिया। अब वर्ण का निर्धारण कर्म के आधार पर नहीं, बल्कि जन्म के आधार पर किया जाने लगा। इससे समाज में जाति व्यवस्था का उद्भव हुआ।

♦ अस्पृश्यता का प्रचलन

इस काल के सामाजिक क्षेत्र में एक नवीन परिवर्तन अस्पृश्यता एवं छुआछूत का प्रचलन था। अस्पृश्यता की उत्पत्ति प्रतिलोम विवाह के फलस्वरूप हुई, जिनमें चांडाल (शूद्र पिता व ब्राह्मण माता से उत्पन्न संतान) की स्थिति सबसे दयनीय थी। इस काल में शूद्रों के साथ अस्पृश्यता का बर्ताव किया जाने लगा। उन्हें यज्ञ करने एवं मंत्रोच्चारण करने के अधिकार से वंचित कर दिया गया। इस काल में अन्तर्वर्ण विवाह एवं खान-पान पर भी प्रतिबंध लगा दिया गया।

♦ स्त्रियों की स्थिति में गिरावट

छठी सदी ई. पू. में स्त्रियों की दशा में भी गिरावट आई। वस्तुतः यह एक साम्राज्यवादी युग था, जिसमें युद्धों में भाग लेने वाले पुरुष सैनिकों का विशेष महत्व था। यही कारण है कि इस काल में स्त्रियों की दशा वैदिक काल की तुलना में खराब हो गई। स्त्रियों की खराब स्थिति का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि इसी काल में सती प्रथा के साहित्यिक साक्ष्य प्राप्त होते हैं। एक ग्रीक लेखक ने उत्तर पश्चिम भारत में सतीप्रथा की चर्चा की है। साथ ही महाभारत में भी पाण्डव की पत्नी माद्री द्वारा सती होने का उल्लेख प्राप्त होता है।

♦ दासों की स्थिति में गिरावट

इस काल में दासों की स्थिति में भी गिरावट आई। अब उन्हें घरेलू कार्यों के साथ-साथ कृषि क्षेत्र में भी लगा दिया गया, जहां उन्हें बेगारी भी करनी पड़ती थी। इस प्रकार समाज में शोषक-शोषित संबंधों का विकास हुआ।

इस प्रकार छठी सदी ई. पू. के सामाजिक जीवन में कुछ ऐसे परिवर्तन हुए, जिनमें वर्तमान के भारतीय समाज की अनेक बुराइयों एवं कुरूपतियों की आधारशिला निर्मित कर दी।

□ धार्मिक क्षेत्र

छठी सदी ई. पू. के दौरान भारत के धार्मिक क्षेत्र में भी कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए, जिनने भारत के इतिहास को एक नवीन दिशा प्रदान की। धार्मिक क्षेत्र में हुए इन परिवर्तनों को बिन्दुवार क्रम में देखा जा सकता है -

♦ आश्रम व्यवस्था

उत्तर वैदिककालीन ग्रंथ छान्दोग्य उपनिषद में 3 आश्रम (ब्रह्मचर्य, ग्रहस्थ व वानप्रस्थ) का, जबकि चौथे आश्रम (सन्यास) का सर्वप्रथम उल्लेख छठी सदी ई. पू. के ग्रंथ जावाली उपनिषद में प्राप्त होता है।

♦ पुरुषार्थ

छठी सदी ई. पू. में ही हमें सर्वप्रथम चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) का साक्ष्य प्राप्त होता है।

♦ षोडश संस्कार

16 संस्कारों का प्रथम उल्लेख अश्वलायन के गृह्य सूत्र में मिलता है। संस्कार का अर्थ है - परिष्कार/शुद्धिकरण। इसके माध्यम से व्यक्ति को समाज के योग्य नागरिक के रूप में तैयार किया जाता था। 16 संस्कार गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक चलते थे, जो इस

प्रकार हैं - गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण, कर्णवेध, उपनयन, केशान्त, समावर्तन, विवाह, वानप्रस्थ, परिव्राज्य या सन्यास एवं पितृमेध या अन्त्यकर्म।

♦ विवाह

अश्वलायन के गृह्य सूत्र में 8 प्रकार के विवाहों का उल्लेख है, जिनमें से ब्रह्म विवाह, दैव विवाह, आर्ष विवाह, प्रजापत्य विवाह को धार्मिक मान्यता प्राप्त थी, जबकि असुर विवाह, गंधर्व विवाह, राक्षस विवाह व पैशाच विवाह को नहीं। इनमें से सबसे अधिक प्रचलित ब्रह्म विवाह था।

यूनानी आक्रमण

सिकन्दर का जन्म 356 ई. पू. में यूनान के मकदूनिया/मेसिडोनिया प्रान्त में हुआ था। वह 336 ई. पू. में अपने पिता फिलिप की मृत्यु के पश्चात् यूनान का शासक बना। सिकन्दर के गुरु का नाम अरस्तू था। सिकन्दर विश्व विजेता बनने की इच्छा की पूर्ति हेतु विजय अभियान पर निकला। इस क्रम में उसने भारत पर 326 ई. पू. में आक्रमण किया। इस समय मगध का शासक धनानन्द था।

भारत में सर्वप्रथम सिकन्दर के सम्मुख सिंध व झेलम नदी के बीच स्थित तक्षशिला के राजा आम्भी ने आत्मसमर्पण कर दिया तथा आगे के विजय अभियान में सिकन्दर की सहायता की।

झेलम/वितस्ता का युद्ध (326 ई. पू.) - सिकन्दर का भारत में सबसे सशक्त विरोध झेलम तथा चिनाब के मध्यवर्ती प्रदेश के शासक पोरस (पूरु) ने किया। युद्ध में अद्भुत वीरता दिखाने के बावजूद भी पोरस पराजित हुआ। बाद में सिकन्दर ने पोरस को उसका राज्य वापस कर दिया। सिकन्दर की सेना ने व्यास नदी से आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया। इस दौरान सिकन्दर 19 महीने भारत में रहा तथा कुछ महत्वपूर्ण नगरों की स्थापना की, जैसे - निकैया (विजयनगर), बुकेफाल (अपने घोड़े के नाम पर) तथा सिकन्दरिया (सिंध)। वापस लौटते हुए 323 ई. पू. में बेबीलोन (ईराक) में सिकन्दर की मृत्यु हो गई।

सिकन्दर के आक्रमण का प्रभाव - वास्तव में सिकन्दर जितनी तीव्र गति से भारत आया, उतनी ही तीव्र गति से वह लौट गया। अतः सिकन्दर के आक्रमण का भारत पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा, किन्तु सिकन्दर कुछ प्रभाव अवश्य पड़े।

सिकन्दर के आक्रमण का भारत को सर्वप्रमुख लाभ यह हुआ कि सिकन्दर के आक्रमण की तिथि 326 ई.पू. ने भारत के क्रमागत इतिहास को लिखने में बड़ी सहायता की। साथ ही भारत में यूनानी संपर्क के परिणामस्वरूप यूनानी मुद्राओं के अनुकरण पर उलूक शैली के सिक्के भी ढाले जाने लगे। सिकन्दर के आगमन के साथ ही मध्य एशिया एवं यूरोप जाने वाले नवीन व्यापारिक मार्गों की खोज भी हुई। उसी प्रकार सिकन्दर के आक्रमण के दौरान उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत में स्थित कुछ गणतंत्रों, जैसे - मालव, क्षुद्रक, कठ, अम्बष्ठ आदि की शक्ति कमजोर हो गई, जिससे इस क्षेत्र में चन्द्रगुप्त मौर्य अधिकार करने में सफल हो सका।

कुल मिलाकर के यह कहा जा सकता है कि सिकन्दर के भारत आक्रमण के प्रभाव तत्कालिक रूप से नहीं, बल्कि दीर्घकालिक रूप से ही दिखाई दिए।

जैन व बौद्ध धर्म

□ जैन व बौद्ध धर्म का उदय

जैन एवं बौद्ध धर्म के उदय हेतु अनेक कारण उत्तरदायी थे, जिन्हें निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत देखा जा सकता है -

1) **नवीन धर्मों की उत्पत्ति का वातावरण** - इस काल में भारत में ही नहीं, वैश्विक स्तर पर नवीन धर्मों का उदय हो रहा था। जहां भी परम्परागत व्यवस्था मानव प्रगति का मार्ग अवरूद्ध कर रही थी, उसके विरुद्ध वहां के लोगों ने आन्दोलन किए तथा नवीन राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक आवश्यकताओं के अनुकूल स्वरूप वाले धर्मों को स्वीकार किया। इस काल में चीन में कन्फ्यूशियस, ईरान में जत्थुष्ट, यूनान में पाइथागोरस आदि। इस काल में भारत में भी लगभग 62 धार्मिक सम्प्रदायों का उद्भव हुआ, जिनमें से सर्वाधिक महत्वपूर्ण व स्थायी जैन व बौद्ध धर्म थे।

2) **ब्राह्मणवादी व्यवस्था के प्रति असंतोष** - छठी ई. पू. के दौरान प्राचीन भारत के राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में कई परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों ने समाज में नवीन आवश्यकताओं को जन्म दिया, जबकि परम्परागत ब्राह्मणवादी व्यवस्था में ऐसी आवश्यकताओं की पूर्ति संभव नहीं थी। यही कारण है कि ब्राह्मणवादी व्यवस्था के प्रति विभिन्न वर्णों में गंभीर असंतोष की भावना उत्पन्न हुई, जिसने जैन एवं बौद्ध धर्म के उद्भव में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

➤ **क्षत्रीय वर्ण का असंतोष** - छठी सदी ई. पू. में क्षत्रीय वर्ण की स्थिति में सुधार हुआ। इस काल में युद्धास्त्रों के रूप में लोहे के प्रयोग ने तथा नियमित भू-राजस्व प्राप्त होने से शासक वर्ग, अर्थात् - क्षत्रियों की स्थिति मजबूत हो गई थी। इसी काल में 16 महाजनपदों का भी उदय हुआ था तथा उनमें सर्वोच्चता प्राप्त करने का संघर्ष भी प्रारंभ हो गया। युद्ध के इस वातावरण में राजनीतिक क्षेत्र में क्षत्रीय वर्ण का महत्व अत्यधिक बढ़ गया था, किन्तु परम्परागत वर्णाश्रम व्यवस्था में अभी-भी क्षत्रियों को ब्राह्मणों के बाद स्थान प्राप्त था। यही कारण है कि इस परम्परागत वर्णाश्रम व्यवस्था का क्षत्रियों द्वारा विरोध किया गया। हम इसे महज संयोग नहीं मान सकते कि बुद्ध एवं महावीर का संबंध क्षत्रीय वर्ण से था।

➤ **वैश्य वर्ण का असंतोष** - छठी सदी ई. पू. में आर्थिक क्षेत्र में कई सकारात्मक परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों के कारण वैश्य वर्ण की आर्थिक स्थिति तो मजबूत हुई थी, किन्तु ब्राह्मणवादी वर्णाश्रम व्यवस्था में उन्हें तृतीय स्थान ही प्राप्त था। ब्राह्मणवादी व्यवस्था में व्यक्ति की सामाजिक स्थिति को उसके जन्म से जोड़ा गया था। सूदखोरी, महाजनी एवं व्यवसाय परिवर्तन पर प्रतिबंध लगाए गए थे। वैश्य वर्ण की संपत्ति का एक हिस्सा ब्राह्मणवादी कर्मकाण्डों में ही व्यय हो जाता था, जबकि यह वर्ग अपना सम्पूर्ण धन विकसित हो रही अर्थव्यवस्था में निवेश करना चाहता था।

इस प्रकार परम्परागत ब्राह्मणवादी व्यवस्था के प्रति वैश्य वर्ण में तीव्र असंतोष था। अतः वैश्य वर्ण ने जैन एवं बौद्ध धर्म जैसे धर्मों के उदय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, क्योंकि इन धर्मों में न तो कोई व्यापारिक प्रतिबंध लगाए गए थे और न ही कर्मकाण्डों एवं खर्चीली पूजा पद्धति पर बल दिया गया था।

➤ **शूद्र वर्ण का असंतोष** - ब्राह्मणवादी वर्णाश्रम व्यवस्था में सबसे निम्न स्थान शूद्रों को दिया गया था। इस काल में जाति व्यवस्था के उद्भव से शूद्रों के साथ अस्पृश्यता का व्यवहार भी किया जाता था। उन्हें शिक्षा प्राप्त करने एवं यज्ञ करने का अधिकार प्राप्त नहीं था। इस प्रकार ब्राह्मणवादी व्यवस्था में शूद्र वर्ण को मोक्ष प्राप्त करने का अधिकार नहीं था। चूंकि जैन एवं बौद्ध धर्म में सहज पूजा पद्धति से शूद्रों एवं दासों को भी मोक्ष प्राप्त करने का अवसर था। अतः इस वर्ण ने भी जैन एवं बौद्ध धर्म के उद्भव में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

➤ **सामान्य जनता का असंतोष** - ब्राह्मणवादी व्यवस्था में प्रचलित धार्मिक कर्मकाण्ड अत्यधिक जटिल थे। इन कर्मकाण्डों में मंत्रों के शुद्ध उच्चारण पर बल दिया जाता था। पुरोहितों की भागीदारी के बिना कोई भी धार्मिक अनुष्ठान आयोजित नहीं किया जा सकता था। साथ ही जटिल मंत्रों के कारण उपासना पद्धति सामान्य व्यक्ति की समझ से परे तथा उनकी धार्मिक जिज्ञासा को शांत करने में असमर्थ थी। जटिल होने के साथ-साथ अत्यधिक खर्चीली कर्मकाण्डीय पद्धति के कारण भी धार्मिक कर्मकाण्ड सामान्य व्यक्ति की पहुंच से बाहर थे। इन समस्त कारणों से सामान्य जनता में ब्राह्मणवादी व्यवस्था के प्रति असंतोष था। वस्तुतः इसी असंतोष ने जैन एवं बौद्ध धर्म के उदय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

- **कृषक वर्ग का असंतोष** - इस काल में नवीन राज्यों के उद्भव से जनसंख्या में वृद्धि हुई। इस अतिरिक्त जनसंख्या हेतु अतिरिक्त खाद्यान्न की आवश्यकता थी, किन्तु ब्राह्मणवादी व्यवस्था में यज्ञों में पशुबलि का प्रचलन था। अतः कृषक वर्ग चाहता था कि एक ऐसे धर्म को अपनाया जाए, जो बलि प्रथा से रहित हो। उनकी इस आकांक्षा ने भी अहिंसा पर बल देने वाले जैन एवं बौद्ध धर्म के उदय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।
 - **नगरीय जनता का असंतोष** -छठी शताब्दी ई. पू. की ब्राह्मणवादी व्यवस्था नवीन नगरीय आवश्यकताओं के अनुरूप स्वयं को नहीं बदल पाई। ब्राह्मणवादी व्यवस्था में ब्याज पर धन के लेन-देन एवं सार्वजनिक खान-पान को अनुचित माना जाता था। इस कारण नगरीय जनता ऐसे सामाजिक-धार्मिक जीवन की आकांक्षा करने लगी, जो नगरीय जीवन की आवश्यकताओं के अनुरूप हो। इस कारण भी उदारवादी विचारधारा वाले जैन एवं बौद्ध धर्म का उदय संभव हो सका।
- 3) **जैन एवं बौद्ध धर्म के आदर्श** - जैन एवं बौद्ध धर्म के उद्भव में इन धर्मों में प्रचलित प्रगतिशील आदर्शों का भी महत्वपूर्ण योगदान था। दोनों धर्मों में अहिंसा, प्रेम, दया, करुणा, अल्पसंचय-अल्पव्यय, परोपकार, संयम जैसे आदर्शों पर बल दिया गया था। वस्तुतः ये कुछ ऐसे आदर्श थे, जिन्हें विश्व के किसी भी नस्ल, जाति, भाषा, सम्प्रदाय के लोगों के द्वारा अपनाया जा सकता था। यही कारण है कि जैन एवं बौद्ध धर्म केवल भारत तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि इसका प्रसार विश्व के अन्य देशों में भी हुआ। अतः हम यह कह सकते हैं कि जैन एवं बौद्ध धर्म के उद्भव में इन धर्मों के प्रगतिशील सिद्धान्तों एवं आदर्शों का भी महत्वपूर्ण योगदान था।
- 4) **माहात्मा बुद्ध एवं महावीर का योगदान** - जैन एवं बौद्ध धर्म के उद्भव में गौतम बुद्ध एवं महावीर की योग्यता, कुशलता, व्यवहारिक बुद्धि एवं कार्य-पद्धति का भी महत्वपूर्ण योगदान था। बुद्ध एवं महावीर दोनों ही अपनी योग्यता एवं कुशलता से राजकीय संरक्षण प्राप्त करने में सफल रहे। बौद्ध धर्म में प्रारंभ में महिलाओं को संघ में शामिल नहीं किया गया था, किन्तु व्यवहारिक दृष्टिकोण अपनाते हुए आगे महिलाओं को भी संघ में शामिल कर लिया गया। इन दोनों महापुरुषों ने व्यवहारिक बुद्धि का प्रयोग करते हुए दासों एवं शूद्रों को भी मोक्ष का अधिकारी माना। बुद्ध एवं महावीर दोनों ने अपने धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु संघ का गठन किया। इन धर्मों के प्रचार में इन संघों की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही। इन दोनों महापुरुषों के सहज, सरल एवं संयमित जीवन पद्धति ने भी जैन एवं बौद्ध धर्म के प्रति लोगों में आकर्षण उत्पन्न किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन एवं बौद्ध धर्म के उद्भव में इन धर्मों के अनुकूल वैश्विक वातावरण, ब्राह्मणवादी व्यवस्था के दोषों के प्रति लोगों में असंतोष, इन दोनों धर्मों के प्रगतिशील आदर्शों तथा बुद्ध व महावीर की योग्यता का ही महत्वपूर्ण योगदान था।

□ जैन धर्म का संक्षिप्त विवरण

जैन शब्द संस्कृत के जिन शब्द से बना है, जिसका अर्थ है - विजेता (जितेन्द्रिय)। जैन महात्माओं को निर्ग्रन्थ (बन्धन रहित) तथा जैन संस्थापकों को तीर्थंकर (भवसागर से पार उतारने वाला) कहा गया है। जैन धर्म में 24 तीर्थंकर तथा 63 शलाका पुरुष (महान पुरुष) की मान्यता है। जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव या आदिनाथ थे। 24 तीर्थंकरों में से अंतिम दो तीर्थंकर (23वें व 24वें) को ही ऐतिहासिक रूप से सत्य माना जाता है।

23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ थे, जबकि 24वें एवं अंतिम तीर्थंकर महावीर थे। महावीर का जन्म 540 ई. पू. में वैशाली के निकट कुण्डग्राम में हुआ था, जबकि मृत्यु 72 वर्ष की आयु में 468 ई. पू. में पावापुरी में हुई थी। महावीर का बचपन का नाम - वर्धमान, पिता - सिद्धार्थ, माता - त्रिशला, पत्नी - यशोदा, पुत्री - प्रियदर्शना, दामाद/जामाता - जामालि था।

पिता की मृत्यु के बाद महावीर ने 30 वर्ष की अवस्था में गृह त्याग दिया। 12 वर्ष की कठोर तपस्या के बाद जृम्भक ग्राम के समीप ऋजुपालिका नदी के तट पर साल वृक्ष के नीचे उन्हें कैवल्य (पूर्ण ज्ञान) की प्राप्ति हुई। ज्ञान प्राप्ति के उपरान्त महावीर ने अपना प्रथम उपदेश राजगृह में विपुलाचल पहाड़ी पर दिया। इनका प्रथम शिष्य जामालि तथा प्रथम शिष्या चन्दना बनी।

□ जैन धर्म के सिद्धान्त

• सृष्टि की व्याख्या

जैन धर्म के अनुसार सृष्टि का वास्तविक कारण ईश्वर नहीं है, बल्कि सृष्टि की रचना व पालन-पोषण सार्वभौमिक विधान से हुई है। यह सृष्टि अनादि तथा वास्तविक है, जिसमें प्रलय का कोई स्थान नहीं है। सृष्टि/संसार की रचना जीव तथा अजीव से मिलकर हुई

है। जीव चेतन तत्व है, जबकि अजीव अचेतन (जड़) तत्व है। अजीव का विभाजन पांच भागों में किया गया है - पुद्गल (पदार्थ), काल (समय), आकाश (स्थान), धर्म (गति) तथा अधर्म (अगति)। इनमें से काल को अनास्तिकाय द्रव्य माना गया है।

जैन धर्म में संसार को दुःखमूलक माना गया है। संसार के सभी प्राणी अपने-अपने संचित कर्मों के अनुसार ही कर्मफल भोगते हैं। कर्मफल ही जन्म तथा मृत्यु का कारण है। कर्मफल से छुटकारा पाकर ही व्यक्ति निर्वाण की ओर अग्रसर होता है। इसके लिए आवश्यक है कि पूर्वजन्म के संचित कर्म को समाप्त किया जाए और वर्तमान जीवन में कर्मफल से विमुख रहे। जैन धर्म में पुनर्जन्म व कर्म सिद्धान्त की मान्यता है।

♦ आस्रव, बंधन, संवर तथा निर्जरा की व्याख्या

जैन धर्म के अनुसार कर्म, बंधन का कारण है। अज्ञानता के कारण कर्म जीव की ओर आकर्षित होने लगता है, इसे आस्रव कहते हैं। कर्म का जीव के साथ संयुक्त हो जाना बंधन है। त्रिरत्नों का अनुसरण करने से कर्मों का जीव की ओर बहाव रूक जाता है, जिसे संवर कहते हैं। इसके बाद पहले से व्याप्त कर्म समाप्त होने लगते हैं इस अवस्था को निर्जरा कहा गया है। जब जीव से कर्म का अवशेष बिल्कुल समाप्त हो जाता है तब वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार कर्म का जीव से वियोग मुक्ति है। मोक्ष के पश्चात् जीव आवागमन के चक्र से छुटकारा पा लेता है तथा सिद्धशिला नामक कल्पित स्थान में अनन्त चतुष्टय - अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य व अनन्त सुख को प्राप्त करता है।

♦ त्रिरत्न

जैन धर्म के अनुसार मोक्ष/निर्वाण की प्राप्ति हेतु त्रिरत्नों का पालन करना आवश्यक है। जैन धर्म में त्रिरत्न - सम्यक् दर्शन/धारणा, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् आचरण/चरित्र को माना गया है। इनमें से आचरण पर सर्वाधिक बल दिया गया है तथा इस सम्बंध में भिक्षुओं के लिए पंच महाव्रत तथा ग्रहस्थों के लिए पंच अणुव्रत के पालन का विधान है -

♦ पंच महाव्रत तथा पंच अणुव्रत

पंच महाव्रत के अन्तर्गत सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य का पालन करना जरूरी माना गया है। इनमें से प्रारंभ के 4 व्रत पार्श्वनाथ के समय से ही प्रचलित थे, जबकि 5वां व्रत ब्रह्मचर्य को महावीर ने जोड़ा था। पंच अणुव्रत के अंतर्गत भी इन्हीं के पालन की बात की गई है, किन्तु इनकी कठोरता में पर्याप्त कमी की गई है।

♦ सप्तभंगीनय/स्याद्वाद/अनेकान्तवाद

स्याद्वाद, जिसे सप्तभंगीनय भी कहा जाता है, ज्ञान की सापेक्षता का सिद्धान्त है। जैनियों के अनुसार सांसारिक विषयों के संबंध में हमारे सभी निर्णय सापेक्ष एवं सीमित होते हैं। किसी वस्तु के संबंध में हम अपने ज्ञान को न तो पूर्णतः सत्य और न ही पूर्णतः असत्य मान सकते हैं। अतः अपने ज्ञान को त्रुटि से बचाने हेतु कथनों से पूर्व स्यात् (शायद) शब्द का प्रयोग किया जाता चाहिए। चूंकि किसी भी वस्तु या सत्ता के संदर्भ में स्यात् शब्द का प्रयोग 7 तरीकों से किया जा सकता है, इसलिए इस सिद्धान्त को सप्तभंगीनय तथा अनेकान्तवाद भी कहा जाता है। दृष्टिकोण की भिन्नता के कारण हर ज्ञान 7 विभिन्न स्वरूपों में व्यक्त किया जा सकता है -

- 1) स्यात् अस्ति - शायद है।
- 2) स्यात् नास्ति - शायद नहीं है।
- 3) स्यात् अस्ति च नास्ति - शायद है और नहीं है।
- 4) स्यात् अव्यक्तम् - शायद कहा नहीं जा सकता।
- 5) स्यात् अस्ति च अव्यक्तम् - शायद है और कहा नहीं जा सकता।
- 6) स्यात् नास्ति च अव्यक्तम् - शायद नहीं है और कहा नहीं जा सकता।
- 7) स्यात् अस्ति च नास्ति च अव्यक्तम् - शायद है, नहीं है और कहा नहीं जा सकता।

□ श्वेताम्बर एवं दिगम्बर सम्प्रदाय में अन्तर

चन्द्रगुप्त मौर्य के समय मगध क्षेत्र में अकाल पड़ा। इस समय जैन सम्प्रदाय के प्रमुख भद्रबाहु अनुयायियों के साथ दक्षिण भारत चले गए, जबकि स्थूलभद्र अनुयायियों के साथ मगध में ही रूके रहे और उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण करना प्रारम्भ कर दिया। इसी कारण वे श्वेताम्बर कहलाए, जबकि भद्रबाहु के अनुयायी दिगम्बर कहलाए।

श्वेताम्बर अनुयायी ज्ञान प्राप्ति के उपरान्त भी भोजन आवश्यक समझते थे, जबकि दिगम्बर नहीं। श्वेताम्बर मत के अनुसार महावीर स्वामी का विवाह हुआ और पुत्री भी उत्पन्न हुई, जबकि दिगम्बरों का मानना था कि वे अविवाहित थे। श्वेताम्बर मानते थे कि 19वें तीर्थंकर मल्लिनाथ स्त्री थे, जबकि दिगम्बरों के अनुसार वे पुरुष थे। श्वेताम्बर अनुयायी स्त्रियों को मोक्ष प्राप्ति का अधिकार नहीं देते, जबकि दिगम्बर देते हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय प्राचीन जैन ग्रंथों को प्रमाणिक मानते हैं, किन्तु दिगम्बर नहीं मानते।

□ जैन संगति/सम्मेलन

◆ प्रथम जैन संगति

प्रथम जैन संगति चतुर्थ शताब्दी ई. पू. में पाटलिपुत्र में हुई, जिसके अध्यक्ष स्थूलभद्र थे। इस संगति में जैन धर्म के ग्रंथ 12 अंगों का संकलन किया गया। इसी संगति में जैन धर्म का विभाजन श्वेताम्बर एवं दिगम्बर नामक 2 सम्प्रदायों में हो गया। स्थूलभद्र के अनुयायी श्वेताम्बर कहलाए, जबकि भद्रबाहु के अनुयायी दिगम्बर कहलाए।

◆ द्वितीय जैन संगति

द्वितीय जैन संगति छठी शताब्दी ई. में वल्लभी में हुई, जिसके अध्यक्ष देवर्धिगण या क्षमाश्रमण थे। इस संगति में जैन साहित्य (आगम ग्रंथ) 12 अंग, 12 उपांग, 10 प्रकीर्ण, 6 छेद सूत्र, 4 मूल सूत्र एवं अनुयोग सूत्र का संकलन हुआ।

□ जैन साहित्य

जैन धर्म के प्राचीनतम ग्रंथों को पूर्व (पूर्व) कहा जाता है, जिनकी संख्या 14 हैं। जैन साहित्य को आगम कहा जाता है, जो अर्धमागधी या प्राकृत में लिखे गए हैं। इसके अन्तर्गत 12 अंग, 12 उपांग, 10 प्रकीर्ण, 6 छेद सूत्र, 4 मूल सूत्र एवं अनुयोग सूत्र आते हैं। जैन धर्म से सम्बन्धित प्रमुख साहित्य आचारांग सूत्र, भगवती सूत्र, वृहत्कल्प सूत्र, परिशिष्टपर्वम्, थेरी गाथा आदि हैं।

□ बौद्ध धर्म का संक्षिप्त विवरण

बौद्ध धर्म के संस्थापक गौतम बुद्ध थे, जिनका जन्म 563 ई. पू. में कपिलवस्तु के निकट लुम्बिनी नामक स्थान पर हुआ था। गौतम बुद्ध का बचपन का नाम - सिद्धार्थ, पिता - शुद्धोधन, माता - महामाया, पत्नी - यशोधरा, पुत्र - राहुल था।

गौतम बुद्ध ने निम्नलिखित 4 दृश्य देखे, जिसके परिणामस्वरूप उनके मन में वैराग्य की भावना उठी -

1) वृद्ध व्यक्ति।

2) बीमार व्यक्ति।

3) मृत व्यक्ति।

4) प्रसन्न मुद्रा में सन्यासी।

बुद्ध ने 29 वर्ष की अवस्था में गृह त्याग किया। बौद्ध ग्रंथों में इस घटना को महाभिनिष्क्रमण कहा गया है। बुद्ध को ज्ञान की प्राप्ति उरुवेला (बोध गया) में निरन्जना नदी के किनारे पीपल वृक्ष के नीचे हुई थी। इस घटना को बौद्ध ग्रंथों में निर्वाण कहा गया है। ज्ञान प्राप्ति के उपरान्त बुद्ध गया से सारनाथ पहुंचे, जहां बुद्ध ने अपना प्रथम उपदेश दिया। इस घटना को धर्मचक्रप्रवर्तन कहा गया।

बुद्ध जीवन प्रर्यंत एक स्थान से दूसरे स्थान अपने धर्म का प्रचार-प्रसार करते रहे। उन्होंने सबसे अधिक समय कोसल (श्रावस्ती) में बिताया। जीवन के अन्तिम वर्ष में बुद्ध कुशीनगर गए और वहीं पर सुभद्र को अन्तिम उपदेश दिया। 80 वर्ष की अवस्था में 483 ई. पू. में कुशीनगर में ही इनकी मृत्यु हो गई, जिसे बौद्ध ग्रंथों में महापरिनिर्वाण कहा गया है।

□ बौद्ध धर्म के सिद्धान्त

◆ चार आर्य सत्य

बौद्ध धर्म का मूल आधार चार आर्य सत्य हैं, जो हैं -

1) दुःख - बुद्ध के अनुसार जगत में सर्वत्र दुःख है।

2) दुःख समुदाय - दुःख समुदाय, अर्थात् - दुःख उत्पन्न होने के कारण हैं। बौद्ध धर्म में दुःख के कारणों को प्रतीत्य समुत्पाद (कारणता सिद्धान्त) नामक बौद्ध सिद्धान्त में द्वादश निदान के अन्तर्गत समझाया गया है। द्वादश निदान के अन्तर्गत दुःख हेतु 12 तत्वों को क्रमिक रूप से उत्तरदायी माना गया है, जिनमें से पूर्ववर्ती तत्व अपने परवर्ती तत्व का कारण है। ये 12 तत्व हैं - अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नाम-रूप, षडायतन, स्पर्श, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरा तथा मरण। इस प्रकार दुःख का मूल कारण अविद्या है।

प्रतीत्य समुत्पाद बौद्ध दर्शन का मूल तत्व है। क्षणिकवाद नामक बौद्ध सिद्धान्त भी प्रतीत्य समुत्पाद से ही उत्पन्न हुआ है, जिसके अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु क्षण भंगुर है। चूंकि वस्तुओं की उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश तीनों एक ही क्षण में होते हैं, जिसके कारण ही सांसारिक पदार्थ, जो क्षणिक है, में स्थायित्व दिखाई देता है।

3) दुःख निरोध - दुःख के निरोध या निवारण के लिए अविद्या का उन्मूलन आवश्यक है।

4) दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदा - आष्टांगिक मार्ग ही दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदा है।

♦ आष्टांगिक मार्ग

अष्टांगिक मार्ग के अन्तर्गत निम्नलिखित 8 आचरणों के पालन पर बल दिया गया है - सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति व सम्यक् समाधि।

आष्टांगिक मार्ग के अनुशीलन से व्यक्ति निर्वाण की ओर अग्रसर होता है। बुद्ध ने आष्टांगिक मार्ग के अन्तर्गत अधिक सुखपूर्ण जीवन व्यतीत करना या अत्यधिक काया-क्लेश में संलग्न होना दोनों को वर्जित किया है। उन्होंने इस सम्बंध में मध्यम प्रतिपदा (मध्यम मार्ग) को अपनाया।

♦ मोक्ष

बौद्ध धर्म के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य निर्वाण प्राप्ति है। निर्वाण का अर्थ है - दीपक का बुझ जाना, अर्थात् - जीवन-मरण के चक्र से मुक्त हो जाना। बौद्ध धर्म में मोक्ष प्राप्ति हेतु 4 आर्य सत्य का ज्ञान, अष्टांगिक मार्ग, त्रिरत्न (बुद्ध, धम्म व संघ) एवं 10 शीलव्रत के पालन को जरूरी माना गया है। बौद्ध धर्म के अनुसार निर्वाण इसी जीवन में प्राप्त हो सकता है, परन्तु महापरिनिर्वाण मृत्यु के बाद ही सम्भव है।

□ बौद्ध संघ

बुद्ध ने बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु बौद्ध संघ का गठन किया था। प्रारंभ में संघ में स्त्रियों को शामिल नहीं किया गया, किन्तु आगे अपने शिष्य आनन्द के निवेदन पर बुद्ध ने प्रजापति गौतमी को प्रथम महिला के रूप में संघ में शामिल कर लिया।

□ बौद्ध संगति/सम्मेलन

बौद्ध धर्म में 4 बौद्ध संगतियों का आयोजन बौद्ध साहित्य की रचना एवं संकलन के लिए किया गया था।

♦ प्रथम बौद्ध संगति

प्रथम बौद्ध संगति मगध के शासक अजातशत्रु के समय राजगृह में हुई, जिसकी अध्यक्षता महाकस्सप ने की थी। इस संगति में बुद्ध के प्रमुख शिष्य आनन्द तथा उपालि ने क्रमशः सुप्तपिटक व विनयपिटक नामक बौद्ध ग्रंथों की रचना की।

♦ द्वितीय बौद्ध संगति

द्वितीय बौद्ध संगति मगध के शासक कालाशोक के समय वैशाली में हुई, जिसकी अध्यक्षता सुबुकामी ने की थी।

♦ तृतीय बौद्ध संगति

तृतीय बौद्ध संगति मगध के शासक अशोक के समय पाटलिपुत्र में हुई, जिसकी अध्यक्षता मोगलिपुत्ततिस्य ने की थी। इसमें मोगलिपुत्ततिस्य ने अभिधम्मपिटक की रचना की।

♦ चतुर्थ बौद्ध संगति

चतुर्थ बौद्ध संगति मगध के शासक कनिष्क के समय कश्मीर के कुण्डलवन में हुई, जिसकी अध्यक्षता वसुमित्र ने की थी। इस बौद्ध संगति में बौद्ध धर्म का विभाजन हीनयान एवं महायान सम्प्रदाय में हो गया था।

□ हीनयान एवं महायान में अन्तर

हीनयान का शाब्दिक अर्थ है - निम्न मार्ग। ये लोग बौद्ध धर्म के प्राचीन आदर्शों को मूलरूप में बनाए रखना चाहते थे। हीनयान में बुद्ध को एक महापुरुष माना जाता था। हीनयान का आदर्श अर्हत् पद को प्राप्त करना था, जो व्यक्ति अपनी साधना से निर्वाण प्राप्त करते हैं, उन्हें अर्हत् कहा जाता है। हीनयान व्यक्तिवादी धर्म है, जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने प्रयत्नों से ही मोक्ष प्राप्त करना चाहिए। हीनयान में मांस खाना वर्जित है। हीनयानी कोई तीर्थ नहीं मानते। हीनयायी मूर्तिपूजक नहीं थे। हीनयान के ग्रंथ सामान्यतः पालिभाषा में हैं। हीनयानियों का प्रचार-प्रसार मुख्यतः दक्षिण भारत, लंका, बर्मा और थाईलैण्ड में हुआ।

महायान का शाब्दिक अर्थ है - उत्कृष्ट मार्ग। इसे बोधिसत्वयान भी कहते हैं। ये लोग बौद्ध धर्म के प्राचीन आदर्शों में समय के साथ परिवर्तन या सुधार चाहते थे। महायान में बुद्ध को देवता माना जाता था। महायान का आदर्श बोधिसत्व है। बोधिसत्व मोक्ष प्राप्ति के बाद भी दूसरे परन्तु प्राणियों की मुक्ति का निरन्तर प्रयास करते हैं। महायान में मांस खाने पर कोई प्रतिबंध नहीं था। महायानी चार तीर्थों को मानते हैं- लुम्बिनी, बोधगया, सारनाथ, कुशीनगर। महायानी मूर्तिपूजक थे। बुद्ध की मूर्तियों को निर्मित करने का प्रथम श्रेय पहली शताब्दी ई. में मथुरा कला को दिया जाता है। महायान के ग्रंथ सामान्यतः संस्कृत भाषा में हैं। महायानियों का प्रचार-प्रसार मुख्यतः उत्तर भारत, चीन, तिब्बत, जापान, कोरिया में हुआ।

आगे हीनयान वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक नामक उप-सम्प्रदायों में, जबकि महायान माध्यमिक शून्यवाद एवं योगाचार विज्ञानवाद में विभाजित हो गया। कालान्तर में बौद्ध धर्म के कुछ नवीन सम्प्रदाय भी स्थापित हुए, जैसे - वज्रयान, सहजयान आदि।

□ बौद्ध साहित्य

♦ पालीभाषा में

- 1) **सुत्तपिटक** - आनन्द द्वारा लिखित इस पिटक में बौद्ध भिक्षुओं के उपदेश संगृहीत हैं।
- 2) **विनयपिटक** - उपालि द्वारा लिखित इस पिटक में भिक्षुओं हेतु आचार-विचार एवं नियम संगृहीत है।
- 3) **अभिधम्म पिटक** - मोगलिपुत्ततिस्य द्वारा लिखित इस पिटक में बौद्ध धर्म के दार्शनिक सिद्धांतों का वर्णन है।
- 4) **जातक कथाएं** - इनकी संख्या 549 हैं, जिनमें बुद्ध के पूर्वजन्म की कथाएं हैं।
- 5) **दीपवंश एवं महावंश** - इनमें सिंहलद्वीप (श्रीलंका) का इतिहास उल्लेखित है।
- 6) **मिलिन्दपन्हो** - नागसेन द्वारा लिखित इस ग्रंथ में यूनानी राजा मिनाण्डर व बौद्ध भिक्षु नागसेन के मध्य वार्ता का वर्णन है।

♦ संस्कृत भाषा में

- 1) **बुद्धचरित** - अश्वघोष द्वारा लिखित महाकाव्य।
- 2) **सोन्दरानन्द** - अश्वघोष द्वारा लिखित महाकाव्य।
- 3) **सारिपुत्र प्रकरण** - अश्वघोष द्वारा लिखित नाटक।

□ बौद्ध धर्म का पतन

7वीं शताब्दी तक बौद्ध धर्म की निरंतर प्रगति होती रही, किन्तु इसके पश्चात् इसका क्रमिक हास प्रारंभ हुआ तथा अन्तोगत्वा 12वीं शताब्दी तक यह धर्म अपनी मूल भूमि से विलुप्त हो गया। बौद्ध धर्म के पतन हेतु विभिन्न कारणों को उत्तरदायी माना गया है, जैसे -

- 1) **बौद्ध संघ में विभेद एवं विभाजन** - कनिष्क के समय में ही बौद्ध धर्म हीनयान एवं महायान सम्प्रदाय में बंट गया था। तत्पश्चात् इन दोनों सम्प्रदायों के अनेक उप-सम्प्रदाय बन गए।
- 2) **ब्राह्मणवादी धर्म से समझौता** - कालान्तर में बौद्ध धर्म ने परिस्थितियों से समझौता करते हुए हिन्दू धर्म की पूजा-पद्धति एवं संस्कारों को अपना लिया, जिससे बौद्ध धर्म भी हिन्दू धर्म के समान कर्मकाण्डी एवं अंधविश्वासी बन गया। उदाहरणार्थ - महायानियों ने बुद्ध एवं बोधिसत्वों की मूर्ति पूजा करना प्रारंभ कर दिया।
- 3) **बौद्ध संघ में महिलाओं का प्रवेश** - बौद्ध संघ में महिलाओं के प्रवेश से भिक्षुओं का चारित्रिक पतन हुआ। इससे बौद्ध धर्म की लोकप्रियता कम हो गई।
- 4) **वज्रयान सम्प्रदाय** - बौद्ध धर्म का एक सम्प्रदाय वज्रयान कहलाया, जिसमें तांत्रिक साधनाओं द्वारा लोगों अपनी ओर आकर्षित किया जाता था। इस सम्प्रदाय में साधना हेतु मांस, सुरा एवं सुन्दरियों का उपभोग किया जाने लगा, जिससे बौद्ध धर्म का मूलस्वरूप ही नष्ट हो गया।
- 5) **बौद्ध धर्म में सुधार न होना** - महात्मा बुद्ध की मृत्यु के उपरान्त बौद्ध धर्म में किसी ऐसे महापुरुष का जन्म नहीं हुआ, जो उसमें व्याप्त कुरीतियों को समाप्त कर बौद्ध धर्म को सही दिशा दे सकता।
- 6) **हिन्दू धर्म में सुधार** - कालान्तर में हिन्दू धर्म में शंकराचार्य, रामानुजाचार्य जैसे महान आचार्य हुए, जिन्होंने हिन्दू धर्म की व्याख्या नए सिरे से कर इसे अधिकाधिक लोगों के करीब लाया। यहां तक कि बुद्ध को भी विष्णु का एक अवतार मानकर हिन्दू धर्म में शामिल कर लिया गया। इसके परिणामस्वरूप बहुसंख्यक बौद्धों ने हिन्दू धर्म ग्रहण कर लिया।

7) **तुर्क आक्रमण** - जब बौद्ध धर्म की लोकप्रियता दिन-प्रतिदिन कम होती जा रही थी, उसी समय तुर्कों ने भारत पर आक्रमण कर बौद्ध मठों एवं स्मारकों आदि को खंडित कर बहुसंख्यक बौद्ध भिक्षुओं की हत्या कर दी। इस आक्रमण के उपरान्त अधिकांश बौद्ध भिक्षु तिब्बत भाग गए, जबकि बचे हुए में से कुछ ने हिन्दू या ईस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। इस प्रकार ऊपर उल्लेखित समस्त कारणों से बौद्ध धर्म, जिस भूमि में जन्मा था, उसी भूमि में विलुप्त प्राय हो गया।

□ भारतीय संस्कृति में जैन व बौद्ध धर्म का योगदान

प्राचीन काल से लेकर आज तक जैन व बौद्ध धर्म ने भारतीय संस्कृति को अनेक रूपों में प्रभावित किया है। इसे निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत देखा जा सकता है -

- 1) दोनों ही धर्मों ने वैदिक धर्म में प्रचलित यज्ञों, पशुबलि व कर्मकाण्डों का विरोध किया। इससे वैदिक धर्म के अनुयायियों को अपने धर्म में सुधार करने की प्रेरणा मिली। जैन धर्म का सूत्र वाक्य - अहिंसा परमोधर्म: तथा बौद्ध धर्म का सूक्त वाक्य - आत्म दीपो भव, आज भी भारतीयों के आदर्श बने हुए हैं।
- 2) दोनों ही धर्मों ने भारतीय समाज में स्त्रियों एवं दासों के प्रति नरम व्यवहार अपनाया तथा उन्हें मोक्ष प्राप्ति का अधिकार दिया।
- 3) दोनों ही धर्मों ने परोपकार, करुणा, त्याग, सहनशीलता, सदाचार आदि गुणों पर बल दिया।
- 4) दोनों ही धर्मों का प्रचार-प्रसार भारत के साथ-साथ अन्य देशों में भी हुआ, जिससे विश्व बंधुत्व की भावना मजबूत हुई।
- 5) दोनों ही धर्मों ने भारतीयों को एक सरल तथा आडम्बर रहित धर्म प्रदान किए, जिसे सभी वर्गों के लोग अपना सकते थे।
- 6) दोनों ही धर्मों का सर्वाधिक प्रभाव भारतीय कला व साहित्य के क्षेत्र में पड़ा। हाथीगुम्फा अभिलेख, उदयगिरि व एलोरा की गुफाएं, दिलवाड़ा का जैन मंदिर, श्रावणबेलगोला की गोमेश्वर प्रतिमा, खजुराहो के मंदिर आदि जैन धर्म की तथा सांची स्तूप, नासिक व कार्ले के बौद्ध विहार, नालन्दा विश्वविद्यालय आदि बौद्ध धर्म की प्रमुख देन हैं। प्राकृत एवं अर्द्धमागधी भाषा के विकास में जैन धर्म तथा पाली भाषा के विकास में बौद्ध धर्म का प्रमुख योगदान रहा।

□ बुद्ध एवं महावीर का तुलनात्मक विवेचन

♦ समानता

- 1) दोनों छठी शताब्दी ई. पू. की धार्मिक क्रांति के अग्रदूत थे।
- 2) दोनों ने वैदिक कर्मकाण्डों का विरोध किया तथा वेदों की प्रमाणिकता को अस्वीकार किया।
- 3) दोनों ने कर्म, पुनर्जन्म एवं मोक्ष के सिद्धान्त को स्वीकार किया।
- 4) दोनों ने अहिंसा तथा सदाचार पर बल दिया।
- 5) दोनों ने अपने विचारों के प्रचार-प्रसार हेतु संघों की स्थापना की।

♦ असमानता

- 1) जैन एवं बौद्ध धर्म के कर्म एवं मोक्ष संबंधी सिद्धान्त भिन्न हैं। जैन धर्म में कर्म को भौतिक तत्व के रूप में, जबकि बौद्ध धर्म में इच्छा द्वारा किए गए कार्य को ही कर्म माना गया है। इसी प्रकार जैन धर्म में केवल विदेह मुक्ति, जबकि बौद्ध धर्म सदेह मुक्ति को भी स्वीकार किया गया है।
- 2) जैन धर्म में मोक्ष प्राप्ति हेतु कठोर साधना व कायाक्लेश की मान्यता है, जबकि बौद्ध धर्म में इस हेतु मध्यम मार्ग का सुझाव दिया गया है।
- 3) जैन धर्म के अनुसार आत्माएं अनन्त हैं तथा सृष्टि के कण-कण में जीवों का वास है, जबकि बौद्ध धर्म आत्मा की अमरता को स्वीकार नहीं करता है।
- 4) जैन धर्म में भिक्षुओं को निर्वस्त्र रहने का उपदेश दिया गया है, जबकि बुद्ध नग्नता के घोर विरोधी थे।
- 5) जैन धर्म में बौद्ध धर्म की अपेक्षा अहिंसा तथा अपरिगृह पर अधिक जोर दिया गया है।
- 6) बुद्ध ने जाति व्यवस्था जैसी कुरीतियों का प्रबल शब्दों में विरोध किया है, जबकि महावीर ने उतना प्रबल विरोध नहीं किया। इस प्रकार चूंकि ये दोनों ही धर्म ब्राह्मणवादी व्यवस्था के विरोधस्वरूप प्रायः एक ही समय एवं स्थान पर उपजे थे, अतः इनकी कई मान्यता एकसमान हैं, किन्तु आत्मा एवं मोक्ष जैसी संकल्पनाओं पर मौलिक रूप से अन्तर है।

मौर्यकाल
(322 ई. पू. - 185 ई. पू.)

□ **जानकारी के स्रोत**

मौर्यकालीन राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्था की जानकारी मुख्यतः 3 प्रकार के स्रोतों से प्राप्त होती है -

- 1) **साहित्यिक स्रोत** - इसमें प्रमुख हैं - कौटिल्य का अर्थशास्त्र, विशाखदत्त का मुद्राराक्षस, बौद्ध ग्रंथ दिव्यावदान, दीपवंश व महावंश, जैन ग्रंथ हेमचन्द्र की परिशिष्टपर्वम् आदि।
- 2) **पुरातात्विक स्रोत** - इसमें प्रमुख हैं - अशोक के अभिलेख, रुद्रदामन का जूनागढ़ अभिलेख, चन्द्रगुप्त मौर्य का राजप्रासाद, सिक्के, मुहरें आदि।
- 3) **विदेशी यात्रियों का विवरण** - इसमें प्रमुख हैं - मेगास्थनीज की इंडिका, स्ट्रेबो, एरियन, प्लिनी, डायोडोरस, प्लूटार्क, नियार्कस, टॉलेमी आदि लेखकों के यात्रा वृत्तान्त।

□ **मौर्यकालीन जानकारी के स्रोत के रूप में अशोक के अभिलेखों का महत्व**

प्राचीन भारतीय इतिहास में अशोक प्रथम ऐसा शासक था, जिसने अपने अभिलेखों के माध्यम से जनता को संबोधित किया। उस काल में चूंकि आधुनिक प्रिंट एवं इलेक्ट्रॉनिक मीडिया का अभाव था, अतः अशोक ने अपने अभिलेखों के माध्यम से जनता के साथ संपर्क स्थापित किया। अभी तक अशोक के लगभग 50 अभिलेख प्राप्त हो चुके हैं, जो कि मुख्यतः व्यापारिक-मार्गों एवं राजकीय-मार्गों में अवस्थित थे। इन अभिलेखों से मौर्यकालीन आन्तरिक एवं बाह्य नीति के साथ-साथ अशोक के व्यक्तिगत जीवन की भी जानकारी प्राप्त होती है।

अशोक के अभिलेख प्रायः ब्राह्मी लिपि एवं प्राकृत भाषा में लिखे गए थे। हालांकि कुछ अभिलेख खरोष्ठी, यूनानी एवं आरमेइक लिपि में भी प्राप्त होते हैं। सुविधा की दृष्टि से अशोक के अभिलेखों का विभाजन 3 वर्गों में किया जा सकता है -

- 1) **शिलालेख** - इसे वृहद एवं लघु शिलालेख में बांटा जा सकता है।
- 2) **स्तम्भलेख** - इसे भी वृहद एवं लघु स्तम्भलेख में बांटा जा सकता है।
- 3) **गुहालेख** - ये गुफाओं में उत्कीर्ण लेख हैं।

इनमें से वृहद शिलालेख एवं वृहद स्तम्भलेख से अशोककालीन आन्तरिक एवं बाह्य नीति पर प्रकाश पड़ता है, जबकि लघु शिलालेख एवं लघु स्तम्भलेख से अशोक के व्यक्तिगत जीवन एवं व्यक्तिगत धर्म की जानकारी प्राप्त होती है।

वृहद शिलालेख 8 भिन्न-भिन्न स्थानों से प्राप्त हुए हैं, जिनमें प्रायः 14 प्रकार की घोषणाएं अंकित हैं। प्रथम वृहद शिलालेख में पशु हत्या पर पाबंदी लगाने की बात की गई है। द्वितीय वृहद शिलालेख से यह सूचना मिलती है कि अशोक ने कुछ लोककल्याणकारी कार्य, जैसे - चिकित्सालय, वृक्षारोपण, कुओं व प्याऊ का प्रबंध आदि न केवल अपने साम्राज्य की भूमि में, बल्कि पड़ोसी राज्यों में भी करवाए थे। तृतीय वृहद शिलालेख से युक्त, रजुक एवं प्रादेशिक नामक अधिकारियों के विषय में जानकारी मिलती है। चतुर्थ वृहद शिलालेख में अशोक की धम्म नीति को स्पष्ट किया गया है। पांचवें वृहद शिलालेख से धम्म महामात्र नामक अधिकारी की जानकारी मिलती है। छठे वृहद शिलालेख से चुस्त प्रशासन पर प्रकाश पड़ता है। इसमें अशोक यह घोषित करता है कि उसके अधिकारी किसी भी समय उससे मिल सकते थे। इसी श्रेणी में बारहवें वृहद शिलालेख में अशोक ने धार्मिक सहिष्णुता एवं धर्मसार की बात की है। तेरहवें वृहद शिलालेख से न केवल कलिंग विजय की जानकारी, बल्कि अशोक के सीमावर्ती एवं दुरस्थ राष्ट्रों के विषय में भी जानकारी मिलती है।

लघु शिलालेख एवं वृहद व लघु स्तम्भलेख से भी हमें मौर्यकालीन व्यवस्था की महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। भाब्रू स्तम्भलेख में अशोक ने बौद्ध धर्म के त्रिरत्नों, अर्थात् - बुद्ध, धम्म एवं संघ में आस्था प्रकट की है। इस प्रकार इस अभिलेख से अशोक का बौद्ध धर्म के प्रति झुकाव पता चलता है। उसी प्रकार निगालीसागर स्तम्भलेख से यह सूचना मिलती है कि अशोक ने अपने शासन के 12वें वर्ष में इस क्षेत्र की यात्रा की थी तथा यहां निर्मित कनकमूनि का स्तूप का संवर्धन करवाया था। रूमन्देई स्तम्भलेख से यह जानकारी मिलती है कि अशोक ने अपने शासन के 20वें वर्ष में इस क्षेत्र की यात्रा की थी तथा बुद्ध के सम्मान में बलि नामक कर को समाप्त कर दिया व भाग नामक कर की राशि 1/6 से घटाकर 1/8 कर दी थी। इस प्रकार रूमन्देई अभिलेख से हमें अशोककालीन राजस्व

व्यवस्था की भी जानकारी प्राप्त होती है। इसी क्रम में कौशाम्बी/प्रयाग स्तम्भलेख से अशोक के परिवार की जानकारी प्राप्त होती है। इसमें अशोक की पत्नी कारुवाकी एवं पुत्र तीवर का उल्लेख मिलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अशोक के अभिलेखों से मौर्यकालीन आन्तरिक नीति, विदेश नीति, धार्मिक नीति एवं अशोक के व्यक्तिगत जीवन के संबंध में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। अशोक के अभिलेखों का ही यह महत्व है कि हमें मौर्य वंश की जितनी विस्तृत जानकारी मिलती है, उतनी किसी अन्य पूर्ववर्ती या परवर्ती प्राचीन राजवंश के विषय में प्राप्त नहीं होती है।

वस्तुतः मौर्यकालीन जानकारी के स्रोत के रूप में अशोक के अभिलेखों का अत्यधिक महत्व है। इतिहास में पुरातात्विक स्रोतों से प्राप्त जानकारी को साहित्यिक स्रोतों की तुलना में अधिक प्रामाणिक एवं असंदिग्ध माना जाता है, क्योंकि इनमें मानवीय फेरबदल की गुंजाइश बहुत कम होती है। फिर भी इन अभिलेखों से प्राप्त जानकारी की अपनी कुछ सीमाएं हैं -

- 1) ये अभिलेख मुख्यतः राजकीय दृष्टिकोण को ही अभिव्यक्त करते हैं।
- 2) अशोक के कुछ अभिलेखों को मूल स्थान से हटाकर अन्य स्थानों पर प्रतिस्थापित कर दिया गया है। उदाहरणार्थ - फिरोजशाह तुगलक ने मेरठ व टोपरा के अभिलेखों को दिल्ली लाया था। उसी प्रकार अकबर के काल में जहांगीर ने कौशाम्बी अभिलेख को इलाहाबाद लाया था। अब चूंकि कुछ अभिलेखों को उनके मूल स्थान से हटा दिया गया है, अतः इनके आधार पर प्राप्त जानकारी भ्रामक भी हो सकती है।
- 3) कुछ विदेशी यात्रियों ने अशोक के कुछ ऐसे अभिलेखों की चर्चा की है, जो अभी तक प्राप्त नहीं हुए हैं। फाह्यान ने पाटलीपुत्र व संकिसा में तथा ह्वेनसांग ने राजगृह व श्रावस्ती में अशोक के अभिलेखों की चर्चा की है, परन्तु यह अभिलेख अभी तक प्राप्त नहीं हुए हैं। इस प्रकार वर्तमान में अशोक के अभिलेखों के प्राप्ति स्थलों के आधार पर मौर्य साम्राज्य की भौगोलिक सीमाओं को पूर्णतः सत्य नहीं माना जा सकता है।
- 4) स्वयं अशोक ने भी 14वें वृहद शिलालेख में यह उल्लेख किया है कि कई बार लापरवाही या लिपिकार की भूल से लेखों में कुछ गलतियां हो जाती हैं।

इस प्रकार यद्यपि मौर्यकालीन इतिहास की जानकारी के स्रोतों के रूप में अशोक के अभिलेखों का व्यापक महत्व है, फिर भी इनसे प्राप्त जानकारी को पूर्णतः प्रामाणिक एवं असंदिग्ध नहीं माना जा सकता है। वास्तव में मौर्यकाल के संदर्भ में अशोक के अभिलेखों से प्राप्त होने वाली जानकारी को अन्य समकालीन साहित्यिक स्रोतों एवं विदेशी यात्रियों के विवरणों से प्राप्त होने वाली जानकारी से परिपुष्ट करने की आवश्यकता है।

Shaping Your Dreams

□ मौर्यकालीन राजनीतिक/प्रशासनिक व्यवस्था

मौर्यकालीन राजनीतिक/प्रशासनिक व्यवस्था की जानकारी मुख्यतः मेगास्थनीज की इंडिका, कौटिल्य के अर्थशास्त्र एवं अशोक के शिलालेखों से मिलती है।

◆ उद्देश्य

मौर्य राजव्यवस्था/प्रशासन के निम्नलिखित प्रमुख उद्देश्य थे -

- 1) साम्राज्य की एकता व अखण्डता को बनाए रखना।
- 2) साम्राज्य का विस्तार करना।
- 3) लोककल्याणकारी कार्य करना।
- 4) अधिकाधिक राजस्व प्राप्त करना, आदि।

◆ स्वरूप एवं विशेषताएं

- 1) मौर्यकालीन प्रशासन के स्वरूप के संबंध में इतिहासकारों में विवाद है। फिर भी प्रायः यह माना जाता है कि राजा का प्रायः एक केन्द्रीकृत प्रशासनिक व्यवस्था में था, हालांकि दूरस्थ क्षेत्रों में जनता एवं अधिकारियों को स्वायत्ता संबंधी अधिकार भी दिए गए थे। साथ ही मौर्य प्रशासन के स्वरूप के संबंध में यह भी माना जाता है कि यद्यपि राज्य का लोकप्रिय स्वरूप एक कल्याणकारी संस्था का था, तथापि साम्राज्य की एकता व अखण्डता को बनाए रखने के लिए राज्य द्वारा कुछ नियंत्रणकारी उपाय भी अपनाए जाते थे।
- 2) मौर्यकालीन राजनीतिक व्यवस्था राजतंत्रात्मक पद्धति पर आधारित थी, जिसमें प्रशासन का मुखिया राजा होता था। प्रायः राजा का पद वंशानुगत होता था तथा सामान्यतः ज्येष्ठ पुत्र के उत्तराधिकार के नियम का पालन किया जाता था। हालांकि इस काल में राजगद्दी पर अधिकार करने के लिए राजकुमारों के मध्य संघर्ष के भी साक्ष्य प्राप्त होते हैं। बौद्ध ग्रंथों के अनुसार अशोक ने अपने 99 भाइयों की हत्या कर राजगद्दी प्राप्त की थी।
- 3) मौर्य काल में राजा के पद का अर्द्ध दैवीकरण भी हो चुका था। उदाहरणार्थ - अशोक के अभिलेखों में उसे देवानाम्पिय (देवताओं का प्रिय) कहा गया है।
- 4) मौर्यकालीन राजनीतिक व्यवस्था चक्रवर्ती राज्य की अवधारणा पर आधारित थी। इस काल में राजा से आशा की जाती थी कि वह एक विशाल साम्राज्य की स्थापना करे। मौर्य शासकों के अन्तर्गत एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की गई थी। चन्द्रगुप्त मौर्य का साम्राज्य उत्तर में कश्मीर से लेकर दक्षिण में मैसूर तक तथा पश्चिम में ईरान की सीमा में स्थित हिन्दुकुश पर्वत से लेकर पूर्व में बंगाल तक विस्तृत था। अशोक के शासनकाल में कर्लिंग (उड़ीसा) भी मौर्य साम्राज्य में शामिल हो गया। इस प्रकार मौर्य साम्राज्य को भारत का प्रथम अखिल भारतीय साम्राज्य भी कहा जाता है।
- 5) मौर्यकालीन राजनीतिक व्यवस्था लोककल्याणकारी अवधारणा पर आधारित थी। इस काल में शासक वर्ग के द्वारा कई लोककल्याणकारी कार्य किए गए, जैसे - सिंचाई का प्रबंध, वृक्षारोपण, मुफ्त चिकित्सालय आदि।
- 6) मौर्यकालीन राजनीतिक व्यवस्था सप्तांग विचारधारा पर आधारित थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उल्लेखित है कि राज्यरूपी शरीर के 7 अन्विार्य अंग होते थे, जैसे - राजा, अमात्य, जनपद, कोष, दुर्ग, सेना एवं मित्र। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण राजा को ही माना गया है।
- 7) मौर्यकालीन राजनीतिक व्यवस्था पितृसत्तात्मक अवधारणा पर आधारित थी। इस काल में राजा स्वयं को पिता एवं प्रजा को अपनी संतान मानता था। उदाहरणार्थ - अशोक धौली अभिलेख में कहता है 'सारी प्रजा मेरी संतान है'।

◆ केन्द्रीय प्रशासन

मौर्य काल में केन्द्रीय प्रशासन का प्रमुख राजा होता था। राजा में समस्त प्रकार की शक्तियां (कार्यपालिका, व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका) निहित होती थीं। इस काल में यद्यपि राजा की सहायता के लिए एक मंत्रिपरिषद् होती थी, किन्तु राजा मंत्रिपरिषद् की सलाह मानने के लिए बाध्य नहीं था। बावजूद इसके इस काल में राजा के निरंकुश होने के प्रमाण प्राप्त नहीं होते हैं। मेगास्थनीज के अनुसार 'राजा (चन्द्रगुप्त मौर्य) दिन में नहीं सोता था एवं कार्य करते हुए राजसभा में बैठा रहता था तथा मालिश इत्यादि के समय भी प्रजा की शिकायतों को सुनता था'। उसी प्रकार अशोक के छठे शिलालेख में उल्लेखित है कि राज्य के कर्मचारी राजा से किसी भी समय मिल सकते थे तथा उसे किसी महत्वपूर्ण मामले की जानकारी दे सकते थे।

मौर्यकालीन केन्द्रीय प्रशासन विस्तृत नौकरशाही पर आधारित था। अर्थशास्त्र में केन्द्रीय स्तर पर 18 तीर्थ एवं 27 महामात्र नामक अधिकारियों का उल्लेख मिलता है। इनमें से तीर्थ उच्च स्तर के अधिकारी थे, जिनमें प्रधानमंत्री, समाहार्ता (राजस्व विभाग का अधिकारी), सन्निधाता (कोषाधिकारी), सेनापति, युवराज, प्रदेष्टा (फौजदारी न्यायालय का प्रमुख) एवं व्यवहारी (दीवानी न्यायालय का प्रमुख) का विशेष महत्व था। जबकि महामात्र मंत्रियों के निरीक्षण में कार्य करने वाले विभिन्न विभागों के अध्यक्ष थे। इनमें पण्याध्यक्ष (वाणिज्य विभाग का अध्यक्ष), आकराध्यक्ष (खान विभाग का अध्यक्ष), लक्षणाध्यक्ष (छापेखाने का अध्यक्ष), पौतवाध्यक्ष (माप-तौल का अध्यक्ष) आदि प्रमुख थे।

♦ प्रांतीय प्रशासन

केन्द्र का विभाजन प्रांतों में होता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 5 प्रांतों का उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ – उत्तरापथ (राजधानी – तक्षशिला), दक्षिणापथ (राजधानी – सुवर्णगिरि), अवंति (राजधानी – उज्जैन), प्राची (राजधानी – पाटलिपुत्र) तथा कलिंग (राजधानी – तोसली)। प्रांतों का प्रमुख अधिकारी कुमार या आर्यपुत्र कहलाता था, जो कि मुख्यतः राजवंश से संबंधित होता था। प्रांतों में भी केन्द्र के समान एक मंत्री परिषद् होती थी। बौद्ध ग्रंथ दिव्यावदान में उल्लेखित है कि प्रांतीय मंत्रिपरिषद् किसी महत्वपूर्ण मामले की जानकारी बिना प्रांतपति को बताए सीधे केन्द्र को भेज सकती थी। यह तथ्य मौर्यकालीन प्रशासन के केन्द्रीकृत स्वरूप का समर्थन करता है।

♦ मण्डल, जिला एवं ग्रामीण प्रशासन

प्रांतों का विभाजन मण्डल (संभाग) में, जबकि मण्डल का विभाजन आहार या विषय (जिला) में होता था। मण्डल का प्रमुख अधिकारी प्रादेशिक, जबकि विषय का प्रमुख अधिकारी विषयपति या स्थानिक होता था। प्रादेशिक एवं स्थानिक की तुलना वर्तमान के कमिश्नर एवं सहायक कलेक्टर से की जा सकती है। जिला में युक्त एवं रज्जुक नामक महत्वपूर्ण अधिकारी भी होते थे।

जिले से छोटी प्रशासनिक इकाई स्थानीय (800 ग्रामों का समूह), स्थानीय से छोटी प्रशासनिक इकाई द्रोणमुख (400 ग्रामों का समूह), द्रोणमुख से छोटी प्रशासनिक इकाई खार्वाटिक (200 ग्रामों का समूह), खार्वाटिक से छोटी प्रशासनिक इकाई संग्रहण (10 ग्रामों का समूह) होती थी। संग्रहण का प्रमुख अधिकारी गोप होता था, जो कि मुख्यतः जनगणना के कार्य से संबंधित था। जबकि सबसे छोटी प्रशासनिक इकाई ग्राम होती थी, जिसका प्रमुख अधिकारी ग्रामणी कहलाता था। ग्रामीण स्तर पर वंशानुगत एवं स्वशासन संबंधी अधिकार दिए गए थे।

♦ नगरीय प्रशासन

मौर्य काल में नगरीय प्रशासन के संबंध में जानकारी मेगास्थनीज की इंडिका से प्राप्त होती है। इंडिका में उल्लेखित है कि पाटलिपुत्र नगर का प्रशासन 6 समितियों के माध्यम से किया जाता था तथा प्रत्येक समिति में 5-5 सदस्य होते थे। ये समितियां थीं – शिल्पकला समिति, विदेश समिति, जनसंख्या समिति, उद्योग व्यापार समिति, वस्तु निरीक्षक समिति तथा कर निरीक्षक समिति।

♦ न्यायिक प्रशासन

मौर्य काल में सर्वोच्च न्यायालय राजा का न्यायालय, जबकि सबसे छोटा न्यायालय ग्राम न्यायालय था। अर्थशास्त्र में 2 प्रकार के न्यायालयों का उल्लेख किया गया है। प्रथम, धर्मस्थीय (दीवानी) न्यायालय, जिसका प्रमुख धर्मस्थ या व्यवहारिक होता था। द्वितीय, कण्टकशोधन (फौजदारी) न्यायालय, जिसका प्रमुख प्रदेष्टा या प्रादेशिक कहलाता था। न्यायिक क्षेत्र में कठोर दण्ड विधान लागू थी। मृत्युदण्ड, अंग विच्छेद, कारावास व जुर्माना जैसे दण्ड प्रचलित थे।

♦ राजस्व प्रशासन

मौर्य काल में राजस्व प्रशासन भी विकसित अवस्था तक पहुंच चुका था। राजस्व प्रशासन में स्थानिक प्रादेशिक के प्रति, प्रादेशिक समाहार्ता के प्रति एवं समाहार्ता राजा के प्रति उत्तरदायी था। इस प्रकार राजस्व प्रशासन केन्द्रीकृत पद्धति पर आधारित था।

♦ सैन्य प्रशासन

मौर्यकालीन सैन्य प्रशासन में स्थायी सेना का गठन हो चुका था। प्लुटार्क के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य की सैन्य संख्या लगभग 6 लाख थी। मेगास्थनीज के अनुसार सम्पूर्ण सैन्य प्रशासन 6 समितियों में विभाजित था तथा प्रत्येक समिति में 5-5 सदस्य होते थे। ये समितियां थी – जल सेना संबंधी समिति, यातायात व रसद-आपूर्ति संबंधी समिति, पैदल सेना संबंधी समिति, अश्वरोही सेना संबंधी समिति, गज सेना संबंधी समिति एवं रथ सेना संबंधी समिति।

♦ गुप्तचर प्रशासन

मौर्यकाल में सक्षम गुप्तचर व्यवस्था का विकास हो चुका था। अर्थशास्त्र में दो प्रकार के गुप्तचरों का उल्लेख मिलता है – संस्था (एक स्थान में रहने वाले गुप्तचर) एवं संचरा (भ्रमणशील गुप्तचर)। राजा गुप्तचरों के माध्यम से ही विद्रोह की संभावनाओं की जानकारी एवं राजकीय कार्यक्रमों के प्रति जनता की प्रतिक्रिया प्राप्त करता था।

♦ सकारात्मक पक्ष

मौर्यकालीन प्रशासनिक व्यवस्था के कई सकारात्मक पक्ष थे, जैसे –

- 1) राजा सर्वशक्तिशाली होते हुए भी निरंकुश नहीं, बल्कि प्रजा हितैषी होता था।
- 2) मौर्य प्रशासन लोककल्याणकारी भावना पर आधारित था।
- 3) मौर्य प्रशासन पितृसत्तावादी अवधारणा पर आधारित था।
- 4) मौर्य प्रशासन चक्रवर्ती राज्य की अवधारणा पर आधारित था, आदि।

♦ नकारात्मक पक्ष

मौर्यकालीन प्रशासनिक व्यवस्था के कुछ नकारात्मक पक्ष भी थे, जैसे –

- 1) मौर्य प्रशासन व्यापक नौकरशाही पद्धति पर आधारित था। व्यापक नौकरशाही ने न केवल साम्राज्य के आर्थिक व्यय को बढ़ा दिया, बल्कि प्रशासनिक अधिकारियों के द्वारा शोषण को भी जन्म दिया गया।
- 2) मौर्य प्रशासन केन्द्रीकृत पद्धति पर आधारित था। इसके संचालन के लिए राजा का योग्य होना आवश्यक था, किन्तु परवर्ती अयोग्य मौर्य शासक इस केन्द्रीकृत प्रशासनिक व्यवस्था का सफलतापूर्वक संचालन नहीं कर सके। परिणामस्वरूप अशोक की मृत्यु के उपरान्त शीघ्र ही मौर्य साम्राज्य का पतन हो गया।
- 3) मौर्य प्रशासन कठोर दण्डात्मक व्यवस्था पर आधारित था।
- 4) मौर्य प्रशासनिक व्यवस्था में गुप्तचरों के माध्यम से जनता के व्यक्तिगत जीवन में भी अनुचित हस्तक्षेप होता था, आदि।

♦ निष्कर्ष एवं महत्व

इस प्रकार हम देखते हैं कि मौर्यकालीन राजनीतिक/प्रशासनिक व्यवस्था व्यापक नौकरशाही एवं केन्द्रीकृत पद्धति पर आधारित थी। इसमें यद्यपि सामान्य जनता के शोषण की संभावनाएं निहित थीं, किन्तु शासक वर्ग का झुकाव लोककल्याणकारी उपायों के माध्यम से शासन करना था।

□ मौर्यकालीन आर्थिक व्यवस्था

मौर्यकालीन अर्थव्यवस्था कृषि, पशुपालन, शिल्प-उद्योग एवं वाणिज्य-व्यापार पर आधारित थी। इस काल में अर्थव्यवस्था के प्रत्येक स्तर में विकास हुआ।

♦ कृषि

मौर्य काल की अर्थव्यवस्था मुख्यतः कृषि पर आधारित थी। इस काल में कृषि के क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति हुई। कृषि क्षेत्र में हुए विकास को प्रेरित करने वाले निम्नलिखित प्रमुख कारक थे –

- 1) मौर्य शासकों ने कृषि विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। चन्द्रगुप्त मौर्य एवं अशोक ने सिंचाई हेतु सुदर्शन झील का क्रमशः निर्माण एवं जीर्णोद्धार करवाया। राज्य की ओर से कृषकों को अच्छे बीज एवं उपकरण उपलब्ध करवाए जाते थे। साथ ही जैसा कि अर्थशास्त्र में उल्लेखित है कि सेना द्वारा खड़ी फसल को नष्ट किए जाने पर राज्य द्वारा कृषकों को हर्जाना दिया जाता था। इस काल में राज्य द्वारा युद्धबंदियों को कृषि भूमि के विस्तार हेतु लगाया जाता था।
- 2) मौर्य काल में सिंचाई के क्षेत्र में नवीन तकनीकी के प्रयोग, जैसे – घेरेदार कुओं का निर्माण आदि ने भी कृषि के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

इस काल की कृषि अर्थव्यवस्था में हुई प्रगति का ही यह परिणाम था कि राजा प्रजा से कई प्रकार के कर, जैसे – भाग, भोग, शुल्क, रज्जु आदि प्राप्त कर सके एवं इसका निवेश लोककल्याणकारी योजनाओं एवं साम्राज्य विस्तार में कर सके।

♦ पशुपालन

मौर्य शासकों ने पशुपालन के हित में भी महत्वपूर्ण कार्य किए। राज्य द्वारा सार्वजनिक चारागाहों का निर्माण करवाया गया था तथा इन चारागाहों के देखरेख हेतु विविताध्यक्ष नामक अधिकारी की नियुक्ति की गई थी। अशोक ने भी पशुधन के महत्व को समझते हुए पशु हत्या पर प्रतिबंध लगाने के प्रयास किए थे।

♦ शिल्प-उद्योग

मौर्य काल में शिल्प-उद्योग में भी विकास हुआ। शिल्प-उद्योग के विकास का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि अशोक के समय में स्तम्भ अभिलेखों का निर्माण एक ही पत्थर को तराशकर किया गया था तथा पत्थर पर की गई पॉलिश आज भी बनी हुई है।

शिल्प-उद्योग के विकास में सर्वप्रमुख भूमिका श्रेणियों की थी। प्रत्येक शिल्प-उद्योग से संबंधित एक पृथक श्रेणी होती थी। श्रेणियों के द्वारा माप-तौल के पैमाने, वस्तुओं की कीमत आदि का निर्धारण किया जाता था। साथ ही ये श्रेणियां बैंकों का भी कार्य करती थीं। श्रेणी व्यवस्था के अन्तर्गत श्रेणी विशेष से जुड़े परिवार के सदस्यों हेतु व्यवसायिक शिक्षा का प्रबंध भी किया जाता था। राज्य ने भी शिल्प-उद्योग के विकास हेतु महत्वपूर्ण प्रयास किए। राज्य द्वारा विभिन्न श्रेणियों को स्वायत्ता प्रदान की गई तथा इनकी सुरक्षा के भी उचित प्रबंध किए गए थे। साथ ही राज्य ने शिल्प-उद्योग के प्रबंधन हेतु कुछ अधिकारियों की भी नियुक्ति की थी, जैसे - लोहाध्यक्ष, आकराध्यक्ष, लवणाध्यक्ष आदि।

बौद्ध ग्रंथ महावस्तु में 36 प्रकार के शिल्पों का उल्लेख है, जिनमें प्रमुख थे - लोहार, चर्मकार, बढ़ई, वस्त्रकार आदि। इस काल में सर्वप्रमुख उद्योग वस्त्र उद्योग था। काशी व मालवा सूती वस्त्र हेतु तथा बंगाल मलमल व रेशमी वस्त्र हेतु विश्व विख्यात था।

♦ वाणिज्य-व्यापार

मौर्य काल में कृषि उत्पादन व शिल्प-उद्योग में हुए विकास ने वाणिज्य-व्यापार के विकास की आधारशिला निर्मित कर दी थी। राज्य के द्वारा वाणिज्य-व्यापार के विकास हेतु महत्वपूर्ण प्रयास किए गए। वाणिज्य-व्यापार के उचित प्रबंधन हेतु कई अधिकारियों की नियुक्ति की गई थी, जैसे - पण्यध्यक्ष (वाणिज्य-व्यापार का अध्यक्ष), शुल्काध्यक्ष (व्यापार कर वसूल करने वाला), संस्थाध्यक्ष (व्यापारिक मार्गों का अध्यक्ष), पौतवाध्यक्ष (माप-तौल का अध्यक्ष) आदि।

मौर्य काल में आन्तरिक एवं बाह्य दोनों स्तरों पर व्यापार किया जाता था। इस काल में रोम, मध्य एशिया, चीन, दक्षिणी-पूर्वी एशिया आदि देशों के साथ भारत के व्यापारिक संबंध थे। भारत इन देशों से क्रमशः महंगी शराब, घोड़ों, रेशम, मसालों आदि का आयात करता था, जबकि भारत द्वारा निर्यात किए जाने वाले प्रमुख मर्दें हाथी दांत की वस्तुएं, मोती, सूती वस्त्र, अनाज, इमारती लकड़ी आदि थीं।

♦ यातायात एवं संचार व्यवस्था

वाणिज्य-व्यापार के विकास में यातायात एवं संचार के साधनों का विशेष महत्व था। इस काल में सबसे महत्वपूर्ण व्यापारिक मार्ग उत्तरापथ माना जाता था, जो कि बंगाल के सोनारगांव से मथुरा तक जाता था, आगे इसका विस्तार पेशावर तक हो गया था। उसी प्रकार जल मार्गों से व्यापार में ताम्रलिप्ति, भड़ौच, सोपारा आदि बंदरगाहों का विशेष महत्व था।

♦ मुद्रा व्यवस्था

मौर्य काल में राजाओं के द्वारा मुख्यतः सोना, चांदी एवं ताँबे की मुद्राएं जारी की गई थीं। सुवर्ण व पाद सोने की मुद्रा, पण, कार्षापण व धरण चांदी की मुद्रा और माषक, काकणी व अर्द्धकाकणी ताँबे की मुद्रा का प्रचलन था। इनमें से सर्वाधिक प्रचलन पण का था। मुद्रा व्यवस्था में हुई प्रगति भी इस काल के विकसित वाणिज्य-व्यापार की ओर संकेत करती है।

♦ नगरीकरण

मौर्य काल में कृषि, पशुपालन, शिल्प-उद्योग एवं वाणिज्य-व्यापार के क्षेत्र में हुए विकास ने नगरीकरण को भी प्रोत्साहित किया। इस काल में पाटलिपुत्र, तक्षशिला, वाराणसी, उज्जैन, मथुरा आदि नगरों का उन्नयन हुआ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मौर्य काल में अर्थव्यवस्था के प्रत्येक स्तर में अभूतपूर्व विकास हुआ। वास्तव में इस काल की आर्थिक संवृद्धि की वजह से ही मौर्यकालीन शासक न केवल लोककल्याणकारी कार्यों को लागू कर सके, बल्कि एक मजबूत एवं स्थायी सेना के गठन एवं साम्राज्य विस्तार करने में भी सफल हुए।

□ मौर्यकालीन सामाजिक व्यवस्था

◆ वर्णाश्रम व्यवस्था

मौर्यकालीन समाज में वर्णाश्रम व्यवस्था प्रचलित थी। समाज में सर्वप्रमुख स्थान ब्राह्मणों को प्राप्त था, जबकि शुद्रों की स्थिति सबसे निम्न थी। इस काल में अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह के फलस्वरूप वर्णसंकर जातियों में वृद्धि हुई। परिणामस्वरूप सामाजिक गतिशीलता बाधित हुई।

◆ जाति व्यवस्था, अस्पृश्यता एवं स्त्रियों की दशा

मौर्य काल में जाति व्यवस्था एवं अस्पृश्यता का विस्तार हुआ। इस काल में स्त्रियों की दशा में भी गिरावट आई। यद्यपि स्त्रियों को पुनर्विवाह एवं नियोग प्रथा का अधिकार था, किन्तु इस काल में तलाक एवं सती प्रथा के भी साक्ष्य प्राप्त होते हैं। कौटिल्य ने कुछ शर्तों में तलाक की अनुमति दी थी, जैसे – पत्नी के वंध्या हो जाने, परपुरुषगामिनी हो जाने पर आदि। साथ ही इस काल में यद्यपि कौटिल्य ने सती प्रथा का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु कुछ विदेशी यात्रियों के विवरण से हमें सती प्रथा के साहित्यिक साक्ष्य प्राप्त होते हैं। इस काल में पर्दा प्रथा का भी अप्रत्यक्ष रूप से साक्ष्य प्राप्त होता है। संभ्रान्त कुल की स्त्रियां प्रायः घर के अन्दर ही रहती थीं। कौटिल्य ने ऐसी स्त्रियों को अनिष्कासिनी कहा है। मौर्य काल में वैश्यावृत्ति का भी प्रचलन था। वैश्यावृत्ति करने वाली स्त्रियों को रूपाजीवा कहा जाता था। राज्य वैश्यावृत्ति पर कर भी प्राप्त करता था।

◆ दास व्यवस्था

मौर्य काल में दास व्यवस्था का भी विस्तार हुआ। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 9 प्रकार के दासों का उल्लेख है। युद्ध में बंदी बनाए गए लोगों को एवं ऋण न चुकाने वाले लोगों को दास बना लिया जाता था। किन्तु दासों को यह अधिकार प्राप्त था कि वह मालिक को धन देकर दासता से मुक्त हो सकते थे।

◆ शिक्षा एवं मनोरंजन के साधन

मौर्य काल में वर्ण के आधार पर धर्म, व्याकरण, अर्थ एवं राजनीति की शिक्षा दी जाती थी। तक्षशिला, उज्जैन एवं वाराणसी शिक्षा के प्रमुख केन्द्र माने जाते थे। श्रेणियों द्वारा व्यवसायिक शिक्षा की भी व्यवस्था की जाती थी। इस काल में नट, नर्तक, गायक, वादक आदि समाज में लोगों का मनोरंजन करते थे। जुआं, शराब, शिकार इत्यादि भी मनोरंजन के साधन थे।

इस प्रकार मौर्यकालीन समाज में पूर्व काल की तुलना में गतिशीलता बाधित हुई। स्त्रियों एवं दासों की स्थिति में गिरावट आई। यह परम्परा आगे के कालों में भी बनी रही तथा इसने वर्तमान भारत की भी एक सामाजिक कुरीति का रूप धारण कर लिया।

□ मौर्यकालीन धर्म/अशोक की धम्म-नीति

सम्राट अशोक ने अपने शासनकाल में कई महान कार्य किए, जिनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य था – अशोक की धम्म-नीति। अशोक की धम्म-नीति की जानकारी हमें उसके अभिलेखों से प्राप्त होती है।

◆ उद्देश्य

अशोक की धम्म-नीति के निम्नलिखित उद्देश्य थे –

- 1) अशोक की धम्म-नीति तत्कालीन राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं से प्रेरित थी। राजनीतिक दृष्टि से उसका उद्देश्य एक वृहद साम्राज्य की एकता एवं अखण्डता को बनाए रखना था। आर्थिक दृष्टि से उसका उद्देश्य कृषि अर्थव्यवस्था को प्रोत्साहन देना था। यही वजह है कि अशोक ने अपने प्रथम वृहद शिलालेख में पशु-हत्या पर पाबंदी लगाने का आदेश दिया था। इसी प्रकार सामाजिक दृष्टि से अशोक के धम्म का उद्देश्य विभिन्न भाषा-भाषी, नस्ल एवं सम्प्रदाय पर आधारित विस्तृत साम्राज्य को जोड़े रखना था।
- 2) अशोक की धम्म-नीति साम्राज्यवादी उद्देश्य से भी प्रेरित थी। अशोक सैनिक शक्ति की बजाय धम्म शक्ति के माध्यम से विदेशों में अपने प्रभाव को फैलाना चाहता था।
- 3) अशोक के धम्म का एक अन्य प्रमुख उद्देश्य प्रजा का भौतिक एवं आध्यात्मिक उत्थान करना था।

◆ अशोक की धम्म-नीति के स्वरूप के संबंध में प्रचलित विभिन्न मत

अशोक की धम्म-नीति विद्वानों के मध्य एक गहन चर्चा का विषय है। पश्चिमी विद्वानों ने अशोक के धम्म को Religion माना

है, अर्थात् - अशोक के धम्म की तुलना हिन्दू धर्म, ईस्लाम धर्म, ईसाई धर्म आदि से की है। उन्होंने यहां तक कहा है कि अशोक ने धर्म प्रवर्तक की भाँति एक नवीन धर्म की स्थापना का प्रयास किया था। परन्तु अन्य विद्वान इस मत से सहमत नहीं हैं।

इसके विपरीत कुछ अन्य विद्वानों ने अशोक के धम्म को बौद्ध धर्म स्वीकार किया है तथा अशोक को बौद्ध धर्म का अनुयायी माना है। ऐसे विद्वानों ने कुछ ऐसे तथ्य भी प्रस्तुत किए हैं, जो अशोक को बौद्ध धर्म के अनुयायी के रूप में प्रमाणित करते हैं -

- 1) अशोक ने भाब्रु अभिलेख में बौद्ध धर्म में उल्लेखित त्रि-रत्नों (बुद्ध, धम्म व संघ) के प्रति अपनी आस्था प्रकट की थी।
- 2) अशोक के निगालीसागर अभिलेख से जानकारी मिलती है कि अशोक ने अपने शासन के 14वें वर्ष में इस क्षेत्र की यात्रा की थी तथा कनकमुनि (बुद्ध) के स्तूप का संवर्धन करवाया था।
- 3) अशोक के रुमन्देई अभिलेख से जानकारी मिलती है कि अशोक ने अपने शासन के 20वें वर्ष रुमन्देई (लुम्बिनी) की यात्रा की थी तथा यहा बुद्ध के सम्मान में बलि नामक कर को समाप्त एवं भाग नामक कर को 1/6 से घटाकर 1/8 कर दिया था।
- 4) अशोक के समय में तृतीय बौद्ध संगति का भी अयोजन किया गया था।
- 5) अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु विदेशों में धर्म प्रचारक भी भेजे थे।
- 6) अशोक ने कई बौद्ध स्तूपों, जैसे - सांची स्तूप, का निर्माण भी करवाया था।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर भी अशोक के धम्म को महज बौद्ध धर्म नहीं माना जा सकता है। अशोक ने स्वयं को न तो बौद्ध धर्म का अनुयायी कहा और न ही उसने कभी बौद्ध धर्म को राजकीय धर्म घोषित किया। यहां तक कि अशोक ने बौद्ध धर्म के कतिपय सिद्धान्तों एवं विचारों को तीलांजलि दे रखी थी। उदाहरणार्थ - उसने कभी-भी अपने अभिलेखों में 4 आर्य सत्य एवं अष्टांगिक मार्ग का उल्लेख नहीं किया। साथ ही अशोक ने मानव-जीवन के परम लक्ष्य के संबंध में निर्वाण के बजाय स्वर्ग शब्द का प्रयोग किया है। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि अशोक ने न केवल बौद्ध, अपितु ब्राह्मणों तथा अजीवकों के प्रति भी समान दृष्टिकोण अपनाया। अशोक ने बौद्ध भिक्षुओं के साथ-साथ ब्राह्मणों को भी दान दिए एवं उसने अजीवकों के निवास हेतु भी गुफाओं का निर्माण करवाया।

अशोक भले ही व्यक्तिगत जीवन में बौद्ध धर्म के प्रति समर्पित रहा हो, किन्तु उसका धम्म केवल बौद्ध सिद्धान्तों तक सीमित नहीं था। वास्तव में अशोक का धम्म विभिन्न धर्मों से ली गई नैतिक बातों का संग्रह था। हमें अशोक की धम्म-नीति में जो भी बौद्ध प्रभाव दिखाई देता है, उसके पीछे प्रमुख कारण यह है कि तत्कालीन समय में बौद्धवाद केवल एक धार्मिक आन्दोलन न होकर एक सामाजिक आन्दोलन भी था। अतः उस समय सामाजिक रूप से सजग किसी राजा के लिए इससे प्रभावित होना स्वाभाविक ही था।

• अशोक की धम्म-नीति का वास्तविक स्वरूप एवं विशेषताएं

अशोक के धम्म के वास्तविक स्वरूप एवं विशेषताओं को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत देखा जा सकता है -

- 1) अशोक का धम्म विभिन्न धर्मों में विद्यमान अच्छे-अच्छे विचारों का संग्रह था। अशोक ने बौद्ध धर्म से नैतिकता व आचार-विचार, ब्राह्मण धर्म से दंड विधान व अनुशासन तथा अजीवकों से एन्द्रजालिक पद्धति ली थी।
- 2) अशोक का धम्म वास्तव में एक आचार संहिता थी, जिसके अन्तर्गत कई महत्वपूर्ण बातों पर बल दिया गया था, जैसे - माता-पिता के प्रति आदर, गुरुजनों के प्रति सम्मान, दासों व भृत्यों के प्रति नरम व्यवहार, गरीबों व भूखों के प्रति दयाभाव, पर्यावरण एवं पशुओं का संरक्षण, अल्पसंग्रह एवं अल्पव्यय आदि। अशोक कहता है कि हमें सदैव सत्य बोलना चाहिए, बोलने में संयम बरतना चाहिए, हमारे विचार सदैव शुद्ध हों तथा लोगों में चाण्डालुता, निष्ठुरता, अहंकार, क्रोध एवं क्रूरता का अभाव होना चाहिए।
- 3) अशोक के धम्म का उद्देश्य मनुष्य का न केवल भौतिक, बल्कि अध्यात्मिक उत्थान भी करना था। अशोक के अभिलेखों में उल्लेखित है कि धम्म-नीति का पालन करने से न केवल लोगों की भौतिक सुविधाओं में वृद्धि होगी, बल्कि उन्हें स्वर्ग भी प्राप्त होगा।
- 4) अशोक का धम्म अहिंसात्मक अवधारणा पर आधारित है। अशोक ने अपने प्रथम वृहद शिलालेख में पशु-हत्या पर प्रतिबंध लगाने संबंधी आदेश दिए थे।
- 5) अशोक का धम्म लोककल्याणकारी अवधारणा पर आधारित था। अशोक के दूसरे वृहद शिलालेख से उसके लोककल्याणकारी कार्यों की जानकारी प्राप्त होती है।

- 6) अशोक का धम्म पितृसत्तावादी अवधारणा पर आधारित था। अशोक धौली अभिलेख में कहता है कि 'सारी प्रजा मेरी संतान है।'
- 7) अशोक का धम्म सहज व सरल उपासना पद्धति पर आधारित था, जिसमें कर्मकाण्डों एवं खर्चीली पूजा-पद्धति की कोई गुंजाइश नहीं थी।
- 8) अशोक का धम्म सर्वधर्म-सम्भाव की भावना पर आधारित था। अशोक के 12वें शिलालेख में उल्लेखित है कि सम्पूर्ण जनता अपने धर्म के सम्मान के साथ-साथ दूसरे के धर्मों का भी सम्मान करें। यदि कोई दूसरे के धर्म की आलोचना करता है, तो इससे उसके अपने ही धर्म की हानि होती है।
- 9) अशोक का धम्म विश्व-बंधुत्व की अवधारणा पर आधारित था। अशोक के धम्म का स्वरूप ऐसा था, जिसे विश्व के किसी भी सभ्यता, संस्कृति या धर्म का पालन करने वाली जनता अपना सकती थी।

इस प्रकार अशोक का धम्म एक आचार संहिता थी, जिसमें सर्वधर्म-सम्भाव, जनता का भौतिक एवं अध्यात्मिक उत्थान, जियो और जीने दो तथा विश्व-बंधुत्व की भावना समाहित थी।

• अशोक द्वारा धर्म प्रचार-प्रसार हेतु किए गए उपाय

अशोक ने धम्म प्रचार के लिए अनेक उपाय किए थे, जैसे -

- 1) अशोक ने धम्म की प्रमुख बातों को स्तम्भों व शिलाओं पर खुदवाया तथा अपने पूरे साम्राज्य में स्थापित करवाया।
- 2) धम्म प्रचार हेतु प्रयोग में लाए गए अभिलेखों की भाषा एवं लिपि, सामान्य जनता की पाली भाषा एवं स्थानीय लिपियां (ब्राह्म, खरोष्ठी, यूनानी एवं आरमेइक) थीं, ताकि सभी लोग इन्हें पढ़ सकें।
- 3) अशोक ने धम्म के प्रचार-प्रसार हेतु अपने शासन के 14वें वर्ष धम्म-महामात्र की नियुक्ति की थी।
- 4) अशोक ने धम्म के प्रचार-प्रसार हेतु सार्वजनिक गोष्ठियों का भी आयोजन करवाया था।
- 5) अशोक ने धम्म के प्रचार-प्रसार हेतु विदेशों व पड़ोसी राज्यों में राजदूत भी भेजे थे।

• अशोक के धम्म की विफलता के कारण

अशोक द्वारा प्रतिपादित धम्म यद्यपि कई अर्थों में महत्वपूर्ण था, किन्तु उसके धम्म का प्रभाव सीमित रहा। अशोक का धम्म बहुसंख्यक जनता को प्रभावित नहीं कर सका। वस्तुतः इसके पीछे निम्नलिखित कारण उत्तरदायी थे -

- 1) अशोक एक कुशल प्रशासक था न कि महात्मा बुद्ध, महावीर आदि के समान धर्म संस्थापक।
- 2) अशोक के पास धम्म के प्रचार हेतु कोई योग्य सहयोगी नहीं था। उसके पास आनन्द के समान कोई ऐसा कुशल शिष्य नहीं था, जो अपने गुरु के विचारों को जनता तक पहुंचा सके।
- 3) अशोक द्वारा धम्म प्रचार हेतु नियुक्त किए गए धम्म-महामात्र नामक अधिकारी धम्म के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझ सके। इन अधिकारियों ने अशोक के धम्म को बौद्ध धर्म ही माना तथा उसका प्रचार-प्रसार किया। इससे बौद्ध धर्म के विपरीत अन्य धर्म के अनुयायियों द्वारा तीव्र विरोध किया जाने लगा।
- 4) मौर्यकालीन समाज परम्परावादी एवं रूढ़ीवादी समाज था, जबकि अशोक के धम्म में निहित विचार नवीन एवं प्रगतिशील थे। अतः मौर्यकालीन समाज अशोक के धम्म का महत्व नहीं समझ सका।

• महत्व एवं उपयोगिता

अशोक के धम्म को यद्यपि आपेक्षित सफलता नहीं मिली, फिर भी इसे पूर्णतः विफल नहीं कहा जा सकता है। अशोक के शासनकाल में अहिंसावादी एवं सर्वधर्म-सम्भाव से प्रेरित धर्म की वजह से सामाजिक स्थिरता बनी रही तथा उसके शासनकाल में जनता का कोई भी बड़ा विद्रोह नहीं हुआ। साथ ही अशोक के धम्म के प्रगतिशील विचार परवर्ती शासकों को भी प्रभावित करते रहे। अकबर के दीन-ए-इलाही धर्म में भी अशोक के धम्म के विचार देखे जा सकते हैं। यहां तक कि आधुनिक काल में भी पंचशील समझौते के अन्तर्गत अशोक के धम्म में उल्लेखित शांतिपूर्ण सहअस्तित्व जैसे विचारों को शामिल किया गया है।

□ मौर्य साम्राज्य का पतन

चन्द्रगुप्त मौर्य एवं अशोक ने जिस विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की थी, उस साम्राज्य का अशोक की मृत्यु के पश्चात् केवल 52 वर्षों में पतन हो गया। मौर्य साम्राज्य के पतन के संदर्भ में विभिन्न विद्वानों द्वारा अलग-अलग मत दिए गए हैं -

♦ ब्राह्मणों की प्रतिक्रिया

हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार अशोक द्वारा बौद्ध मतों पर आधारित धम्म-नीति को लागू करने से ब्राह्मणों के हित प्रभावित हुए। अशोक की धम्म-नीति में यज्ञों एवं पशु बलि को हतोत्साहित किया गया था, जबकि इन्हीं के माध्यम से ही ब्राह्मणों को धन एवं सम्मान प्राप्त होता था। इसकी प्रक्रियास्वरूप उपजे ब्राह्मणवादी असंतोष में मौर्यवंश के अंतिम शासक वृहदत्त की हत्या उसके ब्राह्मण सैनिक पुष्पमित्र शुंग द्वारा कर दी गई थी। इस प्रकार वृहदत्त की हत्या के साथ मौर्य साम्राज्य का अंत हो गया।

किन्तु अशोक की ब्राह्मण विरोधी नीति उसके अभिलेखों से सिद्ध नहीं होती है। अशोक के अभिलेखों से हमें ज्ञात होता है कि अशोक ने बौद्ध धर्म के साथ-साथ अन्य धर्मों, जैसे - ब्राह्मण धर्म एवं आजीवक सम्प्रदायों को भी संरक्षण प्रदान किया था। यहां तक की पुष्पमित्र शुंग ब्राह्मण जाति का होने के बावजूद सेना के महत्वपूर्ण पद पर कार्यरत था। इस तथ्य से भी स्पष्ट है कि अशोक के शासनकाल में राजकीय पदों की नियुक्ति में भी ब्राह्मण वर्ग के साथ भेदभाव नहीं किया गया। इस प्रकार मौर्य साम्राज्य के पतन हेतु महज ब्राह्मणवादी प्रतिक्रिया को उत्तरदायी नहीं माना जा सकता है।

♦ अशोक की शांतिवादी एवं अहिंसावादी नीति

हेमचन्द्र रायचौधरी के अनुसार अशोक ने कलिंग युद्ध के बाद भेरीघोष (युद्ध विजय) की नीति का त्याग कर धम्मघोष (धम्म विजय) की नीति अपनाई थी। साथ ही अशोक ने अहिंसा पर अत्यधिक बल देते हुए पशुहत्या पर भी प्रतिबंध लगा दिया था। अशोक की इस शांतिवादी एवं अहिंसावादी नीति के कारण मौर्य राज्य की सैनिक शक्ति कमजोर होती गई। इसके परिणामस्वरूप मौर्य साम्राज्य, आन्तरिक व बाह्य खतरों का सफलतापूर्वक सामना नहीं कर सका तथा उसका पतन हो गया।

किन्तु हमें किसी भी समकालीन स्रोत से यह ज्ञात नहीं होता कि अशोक ने अपनी सेना भंग कर दी थी या फिर सैन्य शक्ति में कटौती की थी। यहां तक की कलिंग पर विजय प्राप्ति के उपरान्त भी अशोक ने उसे लौटाया नहीं, बल्कि अपने साम्राज्य में शामिल कर लिया था। वास्तव में अशोक एक कुशल एवं व्यवहारिक प्रशासक था, उसने सदैव स्थायी सेना एवं कठोर दण्ड (मृत्युदण्ड) को बनाए रखा। हम अशोक को पूर्णतः अहिंसावादी भी नहीं कह सकते हैं। प्रथम वृहद शिलालेख में उल्लेखित है कि राजकीय पाकशाला में 2 मोर एवं 1 हिरण मारे जाते थे। इस प्रकार केवल अशोक की शांतिवादी एवं अहिंसावादी नीति को मौर्य साम्राज्य के पतन हेतु उत्तरदायी नहीं माना जा सकता है।

♦ वित्तीय संकट

डी. डी. कोशाम्बी के अनुसार विस्तृत नौकरशाही एवं लोककल्याणकारी कार्यों की वजह से मौर्य साम्राज्य का राजकीय खजाना खाली होता गया। निरन्तर कमजोर होती आर्थिक स्थिति के कारण परवर्ती मौर्य शासकों के द्वारा विस्तृत साम्राज्य पर प्रभावी नियंत्रण बनाए रखना मुश्किल हो गया था, परिणामस्वरूप मौर्य साम्राज्य का पतन हो गया।

किन्तु समकालीन स्रोतों से यह प्रमाणित नहीं होता है कि मौर्य अर्थव्यवस्था निरन्तर कमजोर हो रही थी। इसके विपरीत हम जानते हैं कि मौर्य काल में अर्थव्यवस्था का चहुमुखी विकास हुआ था। अतः केवल वित्तीय संकट को मौर्य साम्राज्य के पतन हेतु पूर्णतः स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

♦ अतिकेन्द्रीकृत शासन व्यवस्था

रोमिला थापर के अनुसार मौर्य प्रशासन का स्वरूप अत्यधिक केन्द्रीकृत था। अतिकेन्द्रीकृत व्यवस्था में कर्मचारियों की निष्ठा राज्य के प्रति नहीं, बल्कि राजा के प्रति होती थी। साथ ही अतिकेन्द्रीकृत व्यवस्था के संचालन हेतु राजा का योग्य होना आवश्यक था, परन्तु अशोक के उत्तराधिकार दुर्बल एवं अयोग्य थे। इससे वे न तो अतिकेन्द्रीकृत प्रशासनिक व्यवस्था का संचालन कर सके और न ही साम्राज्य के विघटन की प्रक्रिया को रोक सके। परिणामस्वरूप मौर्य साम्राज्य का पतन हो गया।

किन्तु हम यह जानते हैं कि केन्द्रीकृत शासन व्यवस्था साम्राज्य की कमजोरी नहीं, बल्कि ताकत होती है। अतः मौर्य प्रशासन के केन्द्रीकृत स्वरूप को पतन हेतु एकमात्र कारण नहीं माना जा सकता है।

□ मौर्य साम्राज्य के पतन का वास्तविक कारण

ऊपर उल्लेखित विभिन्न मतों के विश्लेषण के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि मौर्य साम्राज्य के पतन में इनमें से किसी एक कारण का नहीं, बल्कि सभी कारणों का सम्मिलित उत्तरादायित्व रहा होगा। वस्तुतः अशोक की धम्म-नीति, शांतिवादी नीति एवं लोककल्याणकारी नीति से उपजे संकट का सामना परवर्ती मौर्य शासकों को करना पड़ा होगा। पहले से जनता के असंतोष एवं राज्य के खाली खजाने की समस्या से जूझ रहे परवर्ती शासकों के समक्ष विस्तृत नौकरशाही एवं केन्द्रीकृत प्रशासनिक व्यवस्था का संचालन अत्यन्त ही मुश्किल हो गया होगा।

साथ ही जैसा कि आर. एस. शर्मा का कहना है कि लोहे के ज्ञान एवं वाणिज्य व्यापार के विकास के परिणामस्वरूप मौर्य साम्राज्य में शामिल दूरस्थ क्षेत्रों (मध्य-भारत, दक्कन, कलिंग आदि) की सैनिक एवं आर्थिक शक्ति में बढ़ोत्तरी हुई होगी। इन दूरस्थ राज्यों ने परवर्ती मौर्य शासकों की कमजोरी का लाभ उठाते हुए अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली थी। इसके प्रमाण के रूप में यह देखा जा सकता है कि मौर्य साम्राज्य के पतन के उपरान्त मध्य-भारत, दक्कन एवं कलिंग में क्रमशः शुंग व कण्व, सातवाहन एवं चेदी वंश के राज्यों की स्थापना हुई। इसी दौरान उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत से विदेशी आक्रमण को भी प्रोत्साहन मिला होगा, जिसका सामना परवर्ती कमजोर शासक नहीं कर सके।

निष्कर्षतः मौर्य साम्राज्य के पतन हेतु अशोक की तथाकथित नीतियों, प्रशासन की अतिकेन्द्रीकृत व्यवस्था एवं परवर्ती अयोग्य शासकों को ही उत्तरदायी माना जाना चाहिए।



मौर्योत्तर काल (200 ई.पू. से 300 ई.)
Post Moryan Period (200 BC to 300 AD)

मौर्य साम्राज्य पतन के बाद भारत का इतिहास दो भागों में बंट गया। जहाँ उत्तर-पश्चिम भारत एवं मध्य भारत में क्रमशः इण्डोग्रीक, शक, पहलव तथा कुषाण शासकों के नेतृत्व में विदेशी राज्यों की स्थापना हुई, तो वहीं मध्य भारत एवं दक्कन में क्रमशः शुंग व कण्व तथा सातवाहन व वाकटक शासकों के अंतर्गत देशी राज्यों की स्थापना हुई।

□ राजनीतिक जीवन

मौर्योत्तर काल में भारत के विभिन्न क्षेत्रों में कई विदेशी एवं देशी राज्यों की स्थापना हुई थी। इस काल में प्रायः प्रशासन का आम स्वरूप राजतंत्रात्मक था, जिसमें राजा ही सत्ता का प्रधान होता था, किन्तु प्रशासन के विभिन्न स्तरों में अलग-अलग राज्यों के अंतर्गत प्रशासन के स्वरूप में व्यापक अंतर भी दिखाई देता है। फिर भी इस काल के राजनीतिक क्षेत्र में हुए कुछ नवीन परिवर्तनों को निम्नलिखित बिन्दुओं के अंतर्गत देखा जा सकता है -

♦ विकेन्द्रीकृत राजनीतिक व्यवस्था

इस काल की राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप विकेन्द्रीकृत था। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में कई विदेशी एवं देशी राजाओं ने अपने-अपने राज्य स्थापित कर रखे थे। विदेशी राज्यों के अंतर्गत इण्डोग्रीक शासकों ने साकल एवं तक्षशिला में, शक शासकों ने तक्षशिला, मथुरा, नासिक एवं उज्जैन में, पहलव शासकों ने तक्षशिला में तथा कुषाण शासकों ने पेशावर एवं मथुरा में अपने राज्य स्थापित कर रखे थे। वहीं देशी राज्यों में शुंग व कण्व वंश के शासकों ने पाटलीपुत्र में तथा सातवाहन व वाकटक वंश के शासकों ने नासिक में अपने राज्य की स्थापना की।

♦ राजत्व का दैवीकरण

इस काल में विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को नियंत्रित करने हेतु अर्थात् प्रजा तथा अधिनस्थ शासकों पर अपना प्रभाव बनाए रखने हेतु राजा के पद का दैवीकरण किया गया था। सातवाहन शासकों ने अपनी तुलना राम, भीम, केशव, अर्जुन इत्यादि देवताओं से की थी, जबकि कुषाण शासकों ने चीनी परंपरा के अनुसार देवपुत्र की उपाधि धारण की थी। यहां तक कि कुषाण राज्य में रोमन परंपरा के समान मृत राजाओं की मूर्तियां देवकुल में स्थापित करवाकर उनकी पूजा की जाती थी।

♦ द्वैध-शासन प्रणाली

इस काल में कुषाण एवं शक शासकों के अंतर्गत हमें द्वैध शासन प्रणाली के साक्ष्य भी प्राप्त होते हैं। इस पद्धति के अंतर्गत संयुक्त शासन व्यवस्था को अपनाया गया था, जिसमें राजा के साथ-साथ प्रायः युवराज को भी बराबर का सहभागी माना जाता था।

♦ क्षत्रप प्रणाली

मौर्योत्तर काल में कुषाण व शक शासकों के द्वारा क्षत्रप प्रणाली को अपनाया गया था। इस प्रणाली के अंतर्गत प्रांतों में क्षत्रपों (गवर्नरों) की नियुक्ति की जाती थी। प्रायः क्षत्रप के पद पर किसी विदेशी व्यक्ति को ही नियुक्त किया जाता था।

♦ सैन्य शासन प्रणाली

इस काल में सातवाहन शासकों के अंतर्गत प्रांतों में सैन्य शासन प्रणाली दिखाई देती है। वस्तुतः सातवाहन राजाओं के द्वारा प्रारंभ की गई भूमि अनुदान पद्धति से दूरस्थ क्षेत्रों में भी केन्द्रीय सत्ता स्थापित हुई थी। चूंकि दूरस्थ क्षेत्रों पर भी प्रभावी नियंत्रण बनाए रखना था, यही कारण है कि सातवाहन शासकों ने प्रांतों में सेनापति (गौल्मिक) को ही शासनाध्यक्ष के रूप में नियुक्त किया।

♦ मातृसत्तात्मक प्रभाव

मौर्योत्तर काल में सातवाहन शासकों के प्रशासन में मातृसत्तात्मक प्रभाव दिखाई देता है। सातवाहन राजा अपने नाम के साथ अपनी माता का नाम भी जोड़ते थे। जैसे - गौतमीपुत्र शातकर्णी, विशिष्ट पुत्र पुलुमावी आदि। उसी प्रकार वाकटक प्रशासन में रानियों की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। उदाहरणार्थ - वाकटक नरेश रूद्रसेन द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् उसकी पत्नी प्रभावती गुप्त ने राज्य का संचालन किया था।

इस प्रकार मौर्योत्तर काल के राजनीतिक क्षेत्र में विभिन्न राजवंशों के अंतर्गत कई नवीन परिवर्तन हुए तथा इनमें से कुछ परिवर्तन परवर्ती काल के राजनीतिक जीवन की भी अनिवार्य विशेषताएँ बन गईं।

□ सामाजिक जीवन

मौर्योत्तर काल के सामाजिक जीवन की महत्वपूर्ण विशेषताओं को निम्नलिखित बिन्दुओं के अंतर्गत देखा जा सकता है-

♦ वर्णसंकर जातियों में वृद्धि

बौद्ध युग में जहां वर्णसंकरों की संख्या 12 थी, वहीं इस काल के ग्रंथ मनुसंहिता में वर्णसंकर जातियों की संख्या 61 बताई गई है। वर्णसंकर जातियों की संख्या में हुई वृद्धि के पीछे मुख्यतः दो कारण उत्तरदायी थे। प्रथम, इस काल में भूमि अनुदान पद्धति के अंतर्गत दूरस्थ क्षेत्रों में भी राज्य का प्रभावी नियंत्रण स्थापित हो गया था। इससे दूरस्थ क्षेत्रों के निवासियों (जनजाति लोगों) को भी वर्णाश्रम व्यवस्था में शामिल किया गया, किन्तु उन्हें परंपरागत वर्ण का नहीं बल्कि नवीन वर्ण का दर्जा दिया गया। द्वितीय, इस काल में भारतीय समाज में विदेशी तत्वों का भी आगमन हुआ। चूंकि विदेशियों की उपेक्षा मलेच्छ कहकर अधिक दिनों तक नहीं की जा सकती थी, अतः इन्हें निम्न स्तर के क्षत्रिय का दर्जा दिया गया।

♦ कठोर वर्णाश्रम व्यवस्था

इस काल में वर्णसंकर जातियों की संख्या में हुई वृद्धि से सामाजिक तनाव उत्पन्न हुआ। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप मनु ने वर्णाश्रम व्यवस्था की शुद्धता को बनाए रखने हेतु इसे और भी अधिक कठोर बना दिया। तात्पर्य यह है कि इस काल में किसी निम्न वर्ण के व्यक्ति का अपनी योग्यता से किसी उच्च वर्ण में शामिल होना अत्यंत मुश्किल हो गया।

वर्ण-व्यवस्था में ब्राह्मणों को सर्वोच्च एवं शूद्रों को सबसे निम्न स्थान दिया गया था। इस काल में यद्यपि उद्योग-धंधों एवं वाणिज्य-व्यापार में लगाये जाने के कारण शूद्रों की आर्थिक स्थिति सुधरी थी, किन्तु मनु ने उन्हें वर्णाश्रम व्यवस्था में सबसे निम्न स्थान ही दिया था। इस काल में भी शूद्रों के साथ अस्पृश्यता का वर्ताव किया जाता रहा तथा उनका प्रमुख कार्य ऊपर के तीनों वर्णों की सेवा करना ही माना गया।

♦ स्त्रियों की स्थिति

इस काल ने स्त्रियों की दशा में तुलनात्मक रूप से गिरावट आई। चूंकि वर्ण-व्यवस्था की शुद्धता को बनाये रखने की हेतु महिलाओं को पुरुषों के अधीन करना आवश्यक था। अतः मनु ने महिलाओं के प्रति कठोर रूप अपनाया तथा उन्हें सामान्य अधिकारों से वंचित किया गया। मनुसंहिता में बाल-विवाह को प्रोत्साहन एवं विधवा विवाह पर पाबंदी लगाई गई। पुरुषों को महिलाओं को तलाक देने का अधिकार भी दिया गया। हालांकि सातवाहन एवं वाकटक वंश के अंतर्गत महिलाओं की स्थिति बेहतर थी तथा प्रशासन में उनकी महत्वपूर्ण भागीदारी होती थी।

♦ दासों की स्थिति

मौर्योत्तर काल में भी दास व्यवस्था का प्रचलन था। मनु संहिता में सात प्रकार के दासों का उल्लेख किया गया। चूंकि इस काल में शिल्प-उद्योग एवं वाणिज्य-व्यापार में वृद्धि हुई थी तथा इन क्षेत्रों में दासों को लगाया जाता था। अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि दासों की आर्थिक स्थिति सुधरी होगी, किन्तु समाज में अभी भी उनको घृणित दृष्टि से ही देखा जाता था।

इस प्रकार मौर्योत्तर कालीन समाज में वर्णसंकर जातियों की संख्या में वृद्धि हुई। स्त्रियों, शूद्रों एवं दासों की स्थिति दयनीय ही बनी रही। यही कारण है कि कुछ इतिहासकारों ने मौर्योत्तर कालीन समाज को अंधकार युग की संज्ञा दी।

□ आर्थिक जीवन

मौर्योत्तर काल आर्थिक दृष्टि से भारतीय इतिहास का स्वर्णकाल माना जाता है। इस काल में कृषि, शिल्प-उद्योग, वाणिज्य-व्यापार, मुद्रा-व्यवस्था एवं नगरीकरण सभी क्षेत्रों में अभूतपूर्व विकास हुआ।

♦ कृषि

इस काल की कृषि विकसित अवस्था में थी। कृषि उत्पादन को प्रेरित करने वाले निम्नलिखित कारक थे -

- 1) इस काल में भूमि अनुदान पद्धति के कारण कृषि योग्य भूमि का विस्तार हुआ, क्योंकि अनुदान में उपजाऊ भूमि के साथ अनुपजाऊ भूमि भी दी जाती थी।
- 2) इस काल में भूमि की निजी स्वामित्व की अवधारणा को बल दिया गया। उदाहरणार्थ - मनु कहता है कि भूमि उसकी होती है जो उसे आबाद करता है।

- 3) इस काल में राज्य द्वारा कृषि को प्रोत्साहन देने हेतु कृषि से संबंधित अपराधों के लिए सजा का प्रावधान किया गया, जैसे- कृषि उपकरण चुराना, नकली बीज बेचना आदि।
- 4) इस काल में राज्य की ओर से सिंचाई को प्रोत्साहन दिया गया। उदाहरणार्थ - रूद्रदामन ने सुदर्शन झील की मरम्मत कराई।

♦ शिल्प उद्योग

मौर्योत्तर काल में शिल्प उद्योगों की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। इस काल के ग्रंथों में शिल्पियों के जितने प्रकार मिलते हैं, उतने पहले के लेखों में नहीं मिलते। मौर्य पूर्व काल के ग्रंथ दीघनिकाय में 24 प्रकार के शिल्प तथा मौर्य काल के ग्रंथ महावस्तु में 36 प्रकार के शिल्पों का उल्लेख है, जबकि मौर्योत्तर काल के ग्रंथ मिलिन्दपन्हों में 75 प्रकार के व्यवसायों का उल्लेख है, जिनमें से 60 विभिन्न प्रकार के शिल्पों से सम्बद्ध थे। इस काल के शिल्प-उद्योगों के विकास को प्रेरित करने वाले निम्नलिखित प्रमुख कारक थे-

- 1) इस काल में श्रेणी व्यवस्था का विकास हुआ। शिल्पियों के संगठन को श्रेणी कहा जाता था। श्रेणियों के विस्तार ने शिल्प-उद्योगों के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। श्रेणियां न केवल मापतौल के पैमाने व वस्तुओं का मूल्य निश्चित करती थी, बल्कि श्रेणी व्यवस्था से जुड़े परिवार के सदस्यों हेतु व्यवसायिक शिक्षा का प्रबंध भी करती थी। साथ ही श्रेणी संगठन द्वारा निर्मित माल को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने के दौरान सुरक्षा भी प्रदान की जाती थी। इस कार्य हेतु सार्थवाह नामक अधिकारी का नाम प्राप्त होता है।
- 2) इस काल में राज्य द्वारा भी शिल्प-उद्योगों के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई गई। राज्य ने न केवल श्रेणी संगठन को स्वायत्तता बल्कि उन्हें सुरक्षा भी प्रदान की थी।

मौर्योत्तर काल में हुए शिल्प-उद्योगों के विकास का ही यह परिणाम था कि उत्तर भारत में कई प्रकार के उत्पादन केन्द्रों का विकास हुआ। उदाहरणार्थ - मथुरा शाटक नामक वस्त्र के उत्पादन के लिए, उज्जैन मनका बनाने के कारखाने के लिए, मगध वृक्षों के रेशे से वस्त्र व लौह उपकरण बनाने के लिए, कश्मीर केशर के उत्पादन के लिए तथा उड़ीसा हाथी दाँत के उत्पादन के लिए जाना जाता था।

♦ वाणिज्य-व्यापार

इस काल में वाणिज्य-व्यापार में भी महत्वपूर्ण प्रगति हुई। वाणिज्य-व्यापार के विकास को प्रेरित करने वाली निम्नलिखित प्रमुख कारक थे-

- 1) कृषि एवं उद्योग-धंधों के विकास के कारण एक सम्पन्न वर्ग का उद्भव हुआ, जिसने वस्तुओं की मांग बढ़ा दी।
- 2) इण्डोग्रीक, शक एवं कुषाण शासकों का साम्राज्य मध्य एशिया एवं भारत तक विस्तृत था। इससे वाणिज्य-व्यापार का एकीकरण हुआ। कुषाण शासकों का शिल्क मार्ग पर नियंत्रण था, जिससे वे चीन व रोम के मध्य होने वाले रेशम व्यापार पर कर प्राप्त करते थे।
- 3) महाराष्ट्र में सातवाहन शासकों ने उत्तर एवं दक्षिण के व्यापारिक एकीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। साथ ही दक्षिण में संगम काल के अंतर्गत चोल, चेर एवं पाण्ड्य राज्य के उद्भव से भी वहां वाणिज्य-व्यापार को प्रोत्साहन मिला।
- 4) 45 ई. में हिप्पोलस द्वारा मानसून की खोज से भी वाणिज्य-व्यापार को प्रोत्साहन मिला।
- 5) इस काल में बौद्ध धर्म के अंतर्गत महायान संप्रदाय का उद्भव हुआ। महायान संप्रदाय के अंतर्गत मूर्ति पूजा का प्रचलन शुरू हुआ, जिससे पूजा सामग्री के व्यापार को प्रोत्साहन मिला। साथ ही इस संप्रदाय के अंतर्गत दान-दक्षिणा को स्वीकार किया गया, जिससे बौद्ध मठ धन के केन्द्र बन गए और इस धन का निवेश व्यापार में करने लगे।

♦ यातायात व संचार के साधन

मौर्योत्तर काल में यातायात व संचार के साधनों में भी विकास हुआ। इस काल में उत्तरापथ जो कि सोनारगांव से पेशावर तक जाता था, का विस्तार वैक्ट्रिया तक हो गया। इससे यह मार्ग रोम व चीन को जोड़ने वाले शिल्क मार्ग से जुड़ गया। साथ ही इस काल में कई बंदरगाहों का भी विकास हुआ, जिनमें ताम्रलिप्ति (उड़ीसा), भड़ौच (गुजरात), अरिकमेडु (पाण्डिचेरी), कोरकई (तमिलनाडु), मुजरिस (केरल), आदि प्रमुख थे।

♦ व्यापारिक सम्बन्ध एवं आयात-निर्यात

मौर्योत्तर काल में भारत का व्यापार रोम, अरब देश, मध्य एशिया, पूर्वी अफ्रीका, चीन तथा दक्षिणी-पूर्वी एशियाई देशों के साथ होता था। विदेशी व्यापार का संतुलन भारत के पक्ष में था, क्योंकि रोमन यात्री प्लिनी ने रोम से सारा सोना भारत पहुँचने पर दुख व्यक्त किया है। इस काल में भारत ने विदेशी व्यापार में मध्यस्थ की भूमिका के रूप में भी महत्वपूर्ण लाभ प्राप्त किया। भारत दक्षिणी पूर्वी एशियाई देशों एवं चीन से क्रमशः मसालों एवं रेशम का निर्यात कर उन्हें अधिक कीमतों पर रोम को बेचता था।

भारत विदेशों को मुख्यतः मसाले, लौह उपकरण, सूती व रेशमी वस्त्र, कीमती पत्थर व मोती, औषधि एवं अनाजों का निर्यात करता था, जबकि भारत विदेशों से मुख्यतः कीमती धातु, शराब व शराब के दोहलथे कलश, शीशे की बनी वस्तुएँ, अरेटाइन मृदभांड का आदि का आयात करता था।

♦ मुद्रा

मुद्रा विकास की दृष्टि से यह काल प्राचीन भारत के इतिहास में चर्मोत्कर्ष को दर्शाता है। इस काल में बढ़ी संख्या में सोने, चांदी, तांबे एवं कांसे के सिक्के जारी किए गए। सर्वप्रथम इंडोग्रीक शासकों ने लेख एवं आकृतियुक्त स्वर्ण सिक्के जारी किए। कुषाणों के स्वर्ण सिक्के सर्वाधिक शुद्ध होते थे। कुषाणों को सबसे अधिक तांबे के सिक्के जारी करने का श्रेय प्राप्त है। उसी प्रकार सातवाहन राजाओं ने सीसे के सिक्के भी जारी किए, जिन्हें पोटिन कहा जाता था।

♦ नगरीकरण

कृषि, शिल्प-उद्योग, वाणिज्य-व्यापार, मुद्रा अर्थव्यवस्था के विकास ने नगरीकरण की प्रक्रिया को बल प्रदान किया। इस काल के ग्रंथों में कई नगरों का उल्लेख है, जिनमें तक्षशिला, साकल, मथुरा, पाटलीपुत्र, उज्जैन, अरिकमेडु, मुजरिस आदि प्रमुख थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मौर्योत्तर काल में अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में अभूतपूर्व प्रगति हुई। विदेशी व्यापारिक संबंधों में प्रगाढ़ता आई, परिणामस्वरूप विदेशी सम्बन्ध भी मजबूत हुए।

□ धार्मिक जीवन

मौर्योत्तर काल के धार्मिक क्षेत्र में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए, जिन्हें निम्नलिखित बिन्दुओं के अंतर्गत देखा जा सकता है-

♦ विभिन्न धर्मों के स्वरूप में परिवर्तन

➤ **ब्राह्मण धर्म के स्वरूप में परिवर्तन** - मौर्योत्तर काल में परम्परागत ब्राह्मण धर्म के स्वरूप में निम्नलिखित परिवर्तन हुए -

- 1) इस काल में भूमि अनुदान पद्धति से दूरस्थ जनजाति प्रदेश भी राज्य के प्रभावी नियंत्रण में आ गए। इससे इन जनजाति क्षेत्रों की जनता भी समाज का महत्वपूर्ण हिस्सा बन गई। इसके परिणामस्वरूप परम्परागत ब्राह्मण धर्म में जनजाति लोगों में प्रचलित कई धार्मिक मान्यताएं एवं देवी-देवताओं को शामिल कर लिया गया, जैसे - शिव पूजा, गणेश पूजा, वृक्ष पूजा, नाग पूजा, आदि।
- 2) मौर्योत्तर काल में ही कई विदेशी शक्तियों का भारत में आगमन हुआ। इन विदेशी राजवंशों ने भी मौर्योत्तरकालीन धर्म को प्रभावित किया। उदाहरणार्थ - कुषाण राजवंश के अन्तर्गत मृत शासकों की मूर्ति पूजा भी की जाने लगी। साथ ही इन विदेशी तत्वों के आगमन से ब्राह्मण धर्म में अध्यात्मिकता की बजाए भौतिकतावादी स्वरूप को अधिक महत्व दिया जाने लगा। इसके प्रमाण गांधार कला-शैली में निर्मित विभिन्न धर्मों के देवी-देवताओं की मूर्तियों को देखा जा सकता है।
- 3) मौर्योत्तर काल में भी ब्राह्मण धर्म में अवतारवाद की अवधारणा का विकास हुआ। समकालीन साहित्यिक ग्रंथों में विष्णु के 10 एवं शिव के 28 अवतार उल्लेख मिलता है। इस काल में समाज में व्याप्त असंतोष को अवतारवाद के माध्यम से दूर करने का प्रयास किया गया। यही कारण है कि विष्णु या शिव के विभिन्न अवतारों भिन्न-भिन्न वर्णों का माना गया है। उदाहरणार्थ - वामन अवतार (ब्राह्मण), राम अवतार (क्षत्रीय), कृष्ण अवतार (निम्न कुल के यादव वंश) आदि।
- 4) मौर्योत्तर काल में ब्राह्मण धर्म में भक्ति की अवधारणा के भी प्रारंभिक साक्ष्य प्राप्त होते हैं। प्रायः भक्ति के बीज जनजातियों की धार्मिक मान्यताओं में निहित माने जाते हैं। मौर्योत्तरकालीन ग्रंथ श्वेताश्वर उपनिषद् में शिव भक्ति का प्रारंभिक साक्ष्य प्राप्त होता है।

➤ **बौद्ध धर्म के स्वरूप में परिवर्तन** - इस काल में बौद्ध धर्म के स्वरूप में भी कई महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए जैसे -

- 1) मौर्योत्तर काल में कनिष्क के शासन काल में महायान बौद्ध पंथ का उद्भव हुआ। महायान पंथ के अंतर्गत बोधिसत्व की परिकल्पना विकसित हुई। बोधिसत्व से तात्पर्य था, जो निर्वाण प्राप्ति की योग्यता रखता हो, किन्तु जिसने निर्वाण प्राप्त नहीं किया हो, बल्कि वह संसार के सभी प्राणियों के निर्वाण के लिए प्रयासरत हो।
- 2) महायान बौद्ध पंथ के अंतर्गत बौद्ध धर्म का स्वरूप अधिक आशावादी हो गया, क्योंकि हीनयान के विपरीत महायान बौद्ध पंथ में निर्वाण का दरवाजा सभी लोगों के लिए खोल दिया गया।
- 3) महायान बौद्ध पंथ के अंतर्गत बुद्ध एवं बोधिसत्व की मूर्ति पूजा भी प्रारंभ हो गई।
- 4) महायान बौद्ध पंथ के अंतर्गत बुद्ध से संबंधित विभिन्न स्थलों में स्तूपों एवं चैत्यों का निर्माण कर उनकी उपासना पर भी बल दिया जाने लगा। यही कारण है कि मौर्योत्तर काल में अनेक स्तूपों एवं चैत्यों का निर्माण किया गया। इसी काल में भरहुत स्तूप (सतना), अमरावती स्तूप (आन्ध्रप्रदेश) का तथा नासिक, कार्ले, भज, कन्हेरी आदि स्थानों पर चैत्यों का निर्माण हुआ।
- 5) महायान बौद्ध पंथ के द्वारा धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु सामान्य लोगों की भाषा पाली के अतिरिक्त अभिजात्य वर्ग की भाषा संस्कृत को भी अपना लिया गया।

➤ **जैन धर्म के स्वरूप में परिवर्तन** - मौर्योत्तर काल में जैन धर्म के स्वरूप में भी कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। इस काल में दिगम्बर जैन पंथ के अंतर्गत जैन तीर्थंकरों की मूर्ति पूजा प्रारंभ हो गई।

इस प्रकार मौर्योत्तर काल के धार्मिक जीवन में कुछ ऐसे महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए, जिनने वर्तमान के धर्म की आधारशिला निर्मित कर दी।

□ सांस्कृतिक जीवन

मौर्योत्तर काल के सांस्कृतिक जीवन को निम्नलिखित बिन्दुओं के अंतर्गत समझा जा सकता है -

♦ स्थापत्य कला (स्तूप)

प्राचीन भारतीय इतिहास में यद्यपि स्तूपों का निर्माण अशोक के काल में ही प्रारंभ हो गया था, किन्तु मौर्योत्तर काल में स्तूपों का न केवल परिवर्धन हुआ था, बल्कि कलात्मक दृष्टि से उनकी शोभा में भी वृद्धि हुई थी।

मौर्योत्तर काल में शुंग वंश के शासकों ने मौर्य काल में निर्मित भरहुत (सतना), साँची (रायसेन) एवं गया (बिहार) आदि के स्तूपों का परिवर्धन करवाया। उसी प्रकार सातवाहन एवं इक्ष्वाकू वंश के शासकों ने भी अनेक स्तूपों का निर्माण करवाया, जिनमें अमरावती, नागार्जुनकोण्डा, घण्टशाला के स्तूप प्रमुख थे।

स्तूपों का आकार अर्द्धगोलाकार/घण्टाकार होता है। इस संरचना को अण्ड कहा जाता है। स्तूप में सर्वाधिक पूजनीय भाग हर्मिका होती थी, जो स्तूप की चोटी पर होती थी। इसी पर धातु पात्र रखा जाता था। इसके ऊपर एक छत्र भी लगाया जाता था। स्तूप का आधार -चबूतरा मेधि कहलाता था तथा इससे लगा हुआ प्रवक्षिणा पथ होता था। स्तूप को चारों ओर से पाषाण वेदिका से घेरा जाता था। इन वेदिकाओं में लगभग 80 स्तम्भ एवं 4 तोरण द्वार होते थे। प्रायः वेदिका एवं तोरण द्वार की दीवारों में बुद्ध के जीवन की घटनाओं, जातक कथाओं, यक्ष, यक्षणी, वृक्ष, पुष्प, लता आदि की आकृतियों को उकेरा जाता था।

♦ विहार एवं चैत्य

विहार बौद्ध भिक्षुओं के निवास स्थान होते थे। बौद्ध भिक्षु वर्षा ऋतु के चार महीने विहारों में ही रहते हुए पूजा इत्यादि करते थे। मौर्योत्तर काल में मुख्यतः सातवाहन, इक्ष्वाकू एवं वाकटक वंश के राजाओं के द्वारा अनेक विहारों का निर्माण करवाया गया था।

चैत्य प्रायः विहारों के निकट ही मिलते हैं। चैत्य (चित्ता) से तात्पर्य शरीर के अवशेषों को लेकर बनाए गए देवस्थानों से है। चैत्य का आकार मुख्यतः घोड़े की नाल के समान होता था। इस काल निर्मित प्रमुख चैत्य पीतलखोरा, भज, कार्ले, कन्हेरी, अजन्ता आदि हैं।

♦ मूर्तिकला

मौर्योत्तर काल में मूर्तिकला की 2 शैलियों का विकास हुआ -

1) गांधार मूर्तिकला शैली।

2) मथुरा मूर्तिकला शैली।

गांधार मूर्तिकला शैली को इण्डो-ग्रीक शैली भी कहा जाता है। यह कला शैली मुख्य रूप से गांधार या उसके सीमावर्ती क्षेत्रों में फैली थी, इसलिए इसे गांधार मूर्तिकला शैली कहा जाता है। इसमें बुद्ध एवं बोधिसत्त्व की मूर्तियां काले स्लेटी पत्थर से बनाई गई थी, जो यूनानी देवता अपोलो की नकल प्रतीत होती हैं। इस शैली की मूर्तियों में अध्यात्मिकता की जगह भौतिकता का अधिक पुट है।

इसके विपरीत मथुरा मूर्तिकला शैली को भारतीय शैली भी कहा जाता है। यह कला शैली मुख्य रूप से मथुरा या उसके सीमावर्ती क्षेत्रों में फैली थी, इसलिए इसे मथुरा मूर्तिकला शैली कहा जाता है। इसमें बौद्ध, जैन तथा ब्राम्हण धर्म से सम्बंधित मूर्तियां लाल बलुआ पत्थर से बनाई गई थीं। इस कला शैली में निर्मित मूर्तियों में अध्यात्मिकता का अधिक पुट दिखाई देता है।

आगे गुप्त काल में इन दोनों कला शैलियों के प्रभाव से सारनाथ मूर्तिकला शैली का विकास भी हुआ।

♦ साहित्य

मौर्योत्तर काल में सातवाहन शासक हाल द्वारा प्राकृत भाषा में गाथासप्तशती नामक प्राचीनतम मुक्तककाव्य की रचना की गई। इसी काल में पातंजली ने पाणिनी की अष्टाध्यायी पर महाभाष्य नामक टीका लिखी। उसी प्रकार भरत का नाट्यशास्त्र, वात्सायन का कामसूत्र, चरक संहिता आदि इस काल की प्रमुख रचनाएँ हैं। इसी काल में भास ने संस्कृत भाषा में प्रथम नाटक स्वप्नवासवदत्ता की रचना की थी। साथ ही इसी समय अश्वघोष ने बुद्धचरित, सौन्दरानन्द एवं सारिपुत्र प्रकरण की रचना की थी।

इस प्रकार सांस्कृतिक दृष्टिकोण से मौर्योत्तर काल का प्राचीन भारतीय इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। वस्तुतः इस काल के दौरान विकसित हुई कला एवं साहित्य ने ही स्वर्ण युग माने जाने वाले गुप्त काल के सांस्कृतिक जीवन की आधारशिला निर्मित कर दी।



गुप्त काल (275 550 ई.) Gupta Period (275-550 AD)

कुषाणों के पतन के बाद उत्तर भारत में अनेक छोट-छोटे राज्यों का उदय हुआ, जिनमें से कुछ गणतंत्र एवं कुछ राजतंत्र थे। प्रमुख गणतंत्रों में आर्जुनायन (आगरा व जयपुर), यौधेय (पंजाब व राजस्थान), कुणिन्द (यमुना व सतलज) आदि थे, जबकि प्रमुख राजतंत्रों में नागवंश, आभीर, इक्ष्वाकू, गुप्त आदि थे। इस प्रकार गुप्त पहले कुषाणों के सामन्त थे, किन्तु धीरे-धीरे अपने साम्राज्य का विस्तार कर गुप्त शासक उत्तर भारत की सर्वप्रमुख शक्ति बन गए।

□ राजनीतिक व्यवस्था

गुप्तकालीन राजनीतिक व्यवस्था की जानकारी कुछ साहित्यिक एवं पुरातात्विक स्रोतों से पता चलती है। साहित्यिक स्रोतों में कामंदक की नीतिसार, कालिदास की विभिन्न रचनाएं, विशाखदत्त की मुद्राराक्षस, फाह्यान का यात्रा वितरण आदि प्रमुख हैं, जबकि पुरातात्विक स्रोतों में विभिन्न गुप्त शासकों एवं व्यापारियों द्वारा जारी किए गए सिक्के एवं मुहरें प्रमुख हैं।

♦ स्वरूप

गुप्तकालीन राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप **राजतंत्रात्मक** था। गुप्त प्रशासन का केन्द्र बिन्दु राजा था। समस्त प्रकार की कार्यपालिका, विधायिका व न्यायपालिका शक्तियां राजा में ही निहित थीं। राजा का पद प्रायः **वंशानुगत** होता था। इस काल में राजा के पद का **निरपेक्ष दैवीकरण** हो गया। उदाहरणार्थ - चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने देवगुप्त की उपाधि धारण की थी। वस्तुतः गुप्त काल में सामन्तवाद के उद्भव के कारण **विकेन्द्रीकरण** को प्रोत्साहन मिला। यही कारण है कि प्रधान राजा अपने अधिनस्थ सामन्तों को नियंत्रित करने हेतु भारी-भरकम उपाधियां धारण करते थे, जैसे - महाराजाधिराज, परम्भट्टारक, परमेश्वर, देवगुप्त आदि।

गुप्त काल में राजा की सहायता के लिए मंत्रिपरिषद् होती थी, जिसके सदस्यों को अमात्य कहा जाता था। मंत्रियों का पद प्रायः आनुवंशिक होता था। यहां तक कि एक ही मंत्री के पास कई विभाग भी होते थे। उदाहरणार्थ - समुद्रगुप्त के समय हरिषेण कुमारामात्य, महासंधिविग्रहिक, महादण्डनायक आदि पदों पर आसीन था। यह तथ्य भी राजा की कमजोर होती स्थिति एवं विकेन्द्रीकृत राजनीतिक व्यवस्था का समर्थन करता है।

गुप्तकालीन प्रशासनिक व्यवस्था को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत समझा जा सकता है -

♦ केन्द्रीय प्रशासन

केन्द्रीय प्रशासन का सर्वोच्च अधिकारी राजा होता था। राजा की सहायता के लिए अन्य महत्वपूर्ण अधिकारी भी होते थे, जिनमें प्रमुख थे - कुमारामात्य (सर्वोच्च प्रशासनिक अधिकारी), महादण्डनायक (युद्ध एवं न्याय का सर्वोच्च अधिकारी), महासंधिविग्रहिक (शांति एवं विदेश नीति का सर्वोच्च अधिकारी), ध्रुवाधिकरण (भूमि कर वसूलने वाला सर्वोच्च अधिकारी) आदि। ये समस्त अधिकारी राजा के प्रसादपर्यंत होते थे। अतः केन्द्रीय प्रशासन में केन्द्रीकृत व्यवस्था बनी हुई थी।

♦ प्रांतीय प्रशासन

केन्द्र का विभाजन प्रांतों में होता था, जिसे देश/अवनि/भुक्ति कहा जाता था। प्रांत के प्रमुख को उपरिक कहते थे। इस पद पर प्रायः राजकुल से संबंधित व्यक्ति की ही नियुक्ति की जाती थी। गुप्त काल में मौर्य काल के विपरीत प्रांतीय परिषद के साक्ष्य प्राप्त नहीं होते हैं। वस्तुतः यह तथ्य इस बात की ओर संकेत करता है कि राजा का प्रांतपति पर नियंत्रण कमजोर होता जा रहा था।

♦ जिला प्रशासन

प्रांत का विभाजन जिलों में होता था, जिसे विषय कहा जाता था। जिला के प्रमुख को विषयपति कहते थे। गुप्त काल में जिला स्तर में विषयपति की सहायता के लिए एक विषयपरिषद् का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसके प्रमुख सदस्य थे - नगरश्रेष्ठि (नगर के श्रेणियों का प्रधान), सार्थवाह (व्यापारियों का प्रधान), प्रथम कुलिक (प्रधान शिल्पी) तथा प्रथम कायस्थ (प्रधान लेखक)।

♦ ग्रामीण प्रशासन

जिले का विभाजन वीथि (तहसील) में, वीथि का विभाजन पेट (कुछ ग्रामों का समूह) में, जबकि पेट का विभाजन ग्राम में होता था। इस प्रकार प्रशासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम होती थी। ग्रामीण स्तर पर स्थानीय स्वायत्ता एवं वंशानुगत शासन पद्धति प्रचलित थी। ग्राम का प्रशासन ग्रामसभा द्वारा चलाया जाता था, जिसके प्रमुख अधिकारी थे - महत्तर, कुटुम्बिन, अष्टकुलाधिकारी एवं ग्रामिक।

♦ नगर प्रशासन

गुप्त काल में प्रमुख नगरों, जैसे - पाटलिपुत्र, अवन्ति, वैशाली आदि का सर्वोच्च अधिकारी पुरपाल होता था। इस काल में हमें नगरीय प्रशासन में भी वंशानुगत पद्धति के साक्ष्य प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ - जूनागढ़ अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि स्कन्दगुप्त के समय गिरनार नगर का प्रमुख अधिकारी चक्रपालित, जिसने सुदर्शन झील का जीर्णोद्धार करवाया था, वह जूनागढ़ के प्रांतपति पर्णदत्त का पुत्र था।

♦ श्रेणी प्रशासन

गुप्त काल में विभिन्न उद्योग-धंधों से संबंधित व्यवसायियों के पृथक-पृथक संगठन होते थे, जिन्हें श्रेणी कहा जाता था। इन श्रेणियों को अपने सदस्यों पर प्रशासन हेतु स्वायत्ता प्राप्त होती थी। ये श्रेणियां अपने सदस्यों के झगड़ों का स्वयं निपटारा करती थीं, उनके लिए शिक्षा का प्रबंध करती थीं आदि।

♦ राजस्व प्रशासन

गुप्त काल में राजस्व प्रशासन का केन्द्रीय अधिकारी ध्रुवाधिकरण होता था, जो भूमि कर संग्रह से संबंधित अधिकारी था। राजस्व प्रशासन में ही महाक्षपटलिक नामक अधिकारी भूमि आलेखों को सुरक्षित रखता था, जबकि न्यायाधिकरण नामक अधिकारी भूमि संबंधी विवादों का निपटारा करता था।

♦ न्याय प्रशासन

गुप्तकालीन नारद स्मृति व बृहस्पति स्मृति से न्याय प्रशासन की जानकारी प्राप्त होती है। गुप्त काल में पहली बार दीवानी एवं फौजदारी कानून भली-भाँति परिभाषित एवं पृथक्कृत हुए। साम्राज्य का सर्वोच्च न्यायिक अधिकारी राजा होता था, जबकि अन्य प्रमुख न्यायिक अधिकारियों को महादण्डनायक कहा जाता था। इस काल में कठोर दण्ड का प्रावधान नहीं था। फाह्यान के अनुसार मृत्यु दण्ड नहीं दिया जाता था, किन्तु बार-बार एक ही अपराध करने पर अपराधी का दाहिना हाथ काट दिया जाता था। दण्डविधान का कमजोर होना भी राजा की कमजोर होती स्थिति की ओर संकेत करता है।

♦ सैन्य प्रशासन

गुप्त काल में सेना के सर्वोच्च अधिकारी को महाबलाधिकृत कहा जाता था। इस काल में सेना के मुख्यतः 3 अंग थे - पैदल सेना, अश्वारोही सेना एवं गज सेना। सैन्य सामग्री की व्यवस्था एक पृथक अधिकारी (रणभण्डागारिक) के अधीन होती थी।

♦ सकारात्मक पक्ष

गुप्तकालीन प्रशासन के कुछ सकारात्मक पक्ष थे, जिन्हें निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत देखा जा सकता है -

- 1) सर्वप्रथम दीवानी एवं फौजदारी न्याय को परिभाषित एवं पृथक्कृत किया गया था।
- 2) सर्वप्रथम सम्पत्ति संबंधी अधिकारों की विस्तृत व्याख्या की गई।
- 3) सर्वप्रथम सैन्य शक्ति के अन्तर्गत अश्वारोही सेना का महत्व स्थापित हुआ।
- 4) श्रेणी प्रशासन को स्वायत्ता दी गई, जिससे उद्योग-धंधों के विकास को प्रोत्साहन मिला।

♦ नकारात्मक पक्ष

गुप्तकालीन प्रशासन के कुछ नकारात्मक पक्ष थे, जिन्हें निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत देखा जा सकता है -

- 1) प्रशासनिक अधिकारियों का वंशानुगत होना।
- 2) प्रशासनिक अधिकारियों को नकद वेतन के बदले भूमिदान।
- 3) प्रशासन का सामन्तीकरण।
- 4) स्थायी सेना का विकास नहीं।

♦ निष्कर्ष/महत्व

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि गुप्तकालीन प्रशासन में उच्च स्तर पर केन्द्रीकरण, किन्तु निम्न स्तर पर विकेन्द्रीकरण के तत्व प्रभावी थे। इस काल के प्रशासन की कुछ ऐसी विशेषताएं थी, जो परवर्ती काल के प्रशासन को भी प्रभावित करती रही। उदाहरणार्थ - गुप्तकाल में जिस सामन्तवाद का उद्भव हुआ था, उसमें निरन्तर विकास होता गया। आगे गुप्ततोत्तर काल में सामन्तवाद के कारण ही एक केन्द्रीय राज्य की बजाय छोटे-छोटे राज्यों का उद्भव हुआ। उसी प्रकार इस काल में न्यायिक प्रशासन में जिन विधानों का निर्माण हुआ था, उनमें से कुछ विधि-विधान आधुनिक न्यायिक व्यवस्था में भी देखे जा सकते हैं।

□ सामाजिक जीवन

गुप्तकालीन सामाजिक जीवन को निम्नलिखित बिन्दुओं के अंतर्गत समझा जा सकता है -

♦ वर्णाश्रम व्यवस्था

गुप्त काल में वर्णाश्रम व्यवस्था प्रचलित थी। समाज का विभाजन चार वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र में था। वर्णाश्रम व्यवस्था में सर्वोच्चम स्थान ब्राह्मणों को जबकि द्वितीय स्थान क्षत्रियों को प्राप्त था। मनु के अनुसार 10 वर्ष का ब्राह्मण 100 वर्ष के क्षत्रिय से श्रेष्ठ होता है। वर्णाश्रम व्यवस्था में तृतीय स्थान वैश्यों को प्राप्त था। गुप्त काल में वैश्यों की स्थिति में कुछ गिरावट आई। इसके पीछे प्रमुख कारण गुप्त काल के अंतिम चरण में वाणिज्य-व्यापार में आई अवनति थी। वर्णाश्रम व्यवस्था में सबसे निम्न स्थान शूद्र वर्ण को दिया गया था। शूद्र वर्ण का प्रमुख कर्तव्य ऊपर के तीनों वर्णों की सेवा करना था। हालांकि इस काल में शूद्रों की स्थिति में कुछ सुधार हुआ। याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है कि शूद्र ओंकार के बदले नमः शब्द का प्रयोग कर पंचमहायज्ञ कर सकते थे। फिर भी शूद्रों की स्थिति समाज में सबसे दयनीय थी। फाह्यान के विवरण से ज्ञात होता है कि शहर में चाण्डालों (शूद्र) को प्रवेश करने के दौरान जमीन में लकड़ी ठोकते हुए आना होता था, ताकि लोग उसके स्पर्श से बचें तथा मार्ग से हट जाएं।

गुप्त काल में आपद्धर्म के अंतर्गत किसी वर्ण को किसी अन्य वर्ण के कार्यों को अपनाने की छूट थी। शूद्रक कृत मृच्छकटिकम् के अनुसार चारुदत्त नामक ब्राह्मण वैश्य वर्ण का कार्य (वाणिज्य-व्यापार) करता था। इसके पीछे प्रमुख कारण यह था कि गुप्त काल के अंतिम चरण में जब वाणिज्य-व्यापार में गिरावट आई, तो उच्च वर्ण के लोगों को निम्न वर्ण का पेशा अपनाने की छूट दे दी गई थी

♦ जाति व्यवस्था

गुप्त काल में अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह के फलस्वरूप अनेक मिश्रित जातियों का उदय हुआ, जैसे- निषाद (ब्राह्मण पिता व शूद्र माता से उत्पन्न संतान), चाण्डाल (शूद्र पिता व ब्राह्मण माता से उत्पन्न संतान) आदि।

♦ अस्पृश्यता

गुप्त काल में अस्पृश्यता प्रचलित थी। फाह्यान के अनुसार गुप्त काल में एक अस्पृश्य वर्ग था, जिसे अन्त्यज या चाण्डाल या प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न भी कहा जाता था। ये प्रायः बस्ती के बाहर रहते थे तथा सबसे घृणित कार्य, जैसे - सड़कों व गलियों की सफाई करना, श्मशान का काम करना, अपराधियों को फांसी पर लटकाना आदि करते थे।

♦ स्त्रियों की स्थिति

गुप्त काल में स्त्रियों की सामाजिक दशा में गिरावट आई। इसी काल में सर्वप्रथम बाल-विवाह, पर्दा प्रथा, सती प्रथा के साक्ष्य प्राप्त होते हैं। समाज में वैश्यावृत्ति एवं देवदासी प्रथा भी प्रचलित थी। गुप्तकालीन समाज में विधवाओं की स्थिति अत्यंत दयनीय थी। उन्हें श्वेत वस्त्र धारण कर जीवनभर ब्रह्मचर्य का पालन करना होता था।

हालांकि इस काल में स्त्रियों के संबंध में कुछ सकारात्मक बातें भी पता चलती हैं। प्रथम, गुप्त काल में स्त्रियों के संपत्ति संबंधी अधिकारों की घोषणा की गई थी। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार पुत्र के अभाव में पुरुष की संपत्ति पर उसकी पत्नी का और उसके बाद उसकी कन्याओं का अधिकार होना चाहिए। द्वितीय, इस काल में कुछ सुशिक्षित स्त्रियों की भी जानकारी प्राप्त होती है। कालीदास कृत अभिज्ञानशाकुंतलम् में अनुसुईया को इतिहास का ज्ञाता कहा गया है, परंतु स्त्रियों से जुड़ी ये सकारात्मक बातें केवल उच्चवर्ण की स्त्रियों के सम्बन्ध में ही सही थी, जबकि निम्न वर्ण की स्त्रियों की दशा दयनीय ही बनी रही।

♦ दासों की स्थिति

गुप्त काल में दास प्रथा प्रचलित थी। नारद स्मृति एवं विज्ञानेश्वर स्मृति में 15 प्रकार के दासों का उल्लेख है। परंतु इस काल में दास प्रथा में शिथिलता आई। नारद स्मृति में दास मुक्ति के अनुष्ठान का उल्लेख मिलता है। आर. एस. शर्मा के अनुसार दासों की स्थिति में सुधार का कारण सामंतवाद के फलस्वरूप भूमि का छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित होना था। छोटे-छोटे कृषि क्षेत्रों में अधिक दास रखने की आवश्यकता नहीं थी। इससे दासों को कृषि कार्यों से मुक्त कर दिया गया।

♦ शिक्षा, वेश-भूषा, खान-पान, मनोरंजन

गुप्त काल में लौकिक एवं आलौकिक दोनों विषयों की शिक्षा दी जाती थी। नालन्दा, बनारस, उज्जैन, बल्लभी आदि शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे। गुप्त समाज में लोगों की वेश-भूषा, खान-पान एवं मनोरंजन के साधन वर्तमान के ग्रामीण जीवन के अनुरूप थे।

इस प्रकार गुप्तकालीन समाज में शूद्रों की स्थिति पहले के समान दयनीय बनी रही। स्त्रियों की स्थिति में गिरावट आई। मिश्रित जातियों की संख्या में वृद्धि होने से सामाजिक असंतोष में वृद्धि हुई। यही कारण है कि कुछ इतिहासकार उपर्युक्त सामाजिक बुराइयों को देखते हुए गुप्त काल के संदर्भ में स्वर्णयुग जैसी अवधारणा पर प्रश्न चिह्न लगाते हैं।

□ आर्थिक जीवन

आर्थिक दृष्टिकोण से गुप्त काल बहुमुखी समृद्धि का काल माना जाता है। हालांकि अंतिम चरण में अर्थव्यवस्था में गिरावट के साक्ष्य मिलते हैं, फिर भी प्रारंभिक चरण में कृषि, शिल्प-उद्योग, वाणिज्य-व्यापार, मुद्रा, नगरीकरण आदि क्षेत्रों में अभूतपूर्व प्रगति हुई।

♦ कृषि

गुप्त काल में कृषि उत्पादन में वृद्धि हुई। कृषि अर्थव्यवस्था के विकास को प्रेरित करने वाले निम्नलिखित कारक थे -

- 1) भूमि अनुदान पद्धति के कारण कृषि योग्य भूमि का विस्तार हुआ।
- 2) गुप्त शासकों ने सिंचाई के साधनों का विकास किया। उदाहरणार्थ - स्कंदगुप्त के समय में सुदर्शन झील का जीर्णोद्धार हुआ।
- 3) इस काल में नवीन सिंचाई तकनीक का भी विकास हुआ। ह्वेनसांग ने घटी यंत्र (रहट) तथा वाणभट्ट ने तुला यंत्र (रहट) के प्रयोग की चर्चा की है।

इस काल में कृषकों से अनेक प्रकार के कर लिए जाते थे, जैसे- भाग (भूराजस्व), भोग (राजा को प्रतिदिन दी जाने वाली सामग्री), बलि (धार्मिक कर), शूल्क (चूंगीकर) आदि। इस प्रकार की विस्तृत कर प्रणाली कृषि अर्थव्यवस्था के विकास को प्रमाणित करती है।

♦ शिल्प-उद्योग

गुप्त काल में शिल्प-उद्योगों का विकास हुआ। शिल्प-उद्योग के विकास में श्रेणी व्यवस्था का विशेष महत्व था। अलग-अलग उद्योग धंधों से जुड़ी अलग-अलग श्रेणियां व्यापारिक क्रियाकलापों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती थी। राजा द्वारा भी इन्हें स्वायत्तता एवं सुरक्षा प्रदान की गई थी।

शिल्प-उद्योग में सर्वाधिक महत्व वस्त्र उत्पादन का था। इस काल में अच्छे किस्म के सूती, रेशमी एवं ऊनी वस्त्रों का उत्पादन किया जाता था। अजन्ता से प्राप्त चित्रों में बेहतर किस्म के वस्त्रों का प्रदर्शन मिलता है। इस काल में विशेष प्रकार के आभूषणों का भी निर्माण किया जाता था। वृहत् संहिता में 22 प्रकार के आभूषणों का उल्लेख मिलता है।

♦ वाणिज्य-व्यापार

गुप्त काल में वाणिज्य-व्यापार में भी अभूतपूर्व प्रगति हुई। इस काल में भारत का व्यापार रोम, अरब, मध्य एशिया, इथोपिया, चीन, दक्षिणी पूर्वी एशिया आदि देशों के साथ होता था। विदेशी व्यापार में निर्यात की प्रमुख मर्दे वस्त्र, हाथी दांत का वस्तुएं, मसाले, सुगंधित द्रव्य आदि थीं, जबकि चीन से रेशम, इथोपिया से हाथी दांत, अरब, ईरान व बैक्ट्रिया से घोड़ों का आयात किया जाता था।

किन्तु गुप्त काल के अंतिम चरण में वाणिज्य-व्यापार में गिरावट आई। परवर्ती गुप्त शासकों के सिक्कों में मिलावट के साक्ष्य मिलते हैं। उसी प्रकार फुह्यान के अनुसार वाणिज्य-व्यापार में मुद्रा की जगह कौड़ियों का प्रयोग होता था। ये दोनों तथ्य वाणिज्य-व्यापार में आ रही गिरावट के प्रमाण हैं। वस्तुतः गुप्त काल के अंतिम चरण में सामंतवाद के उद्भव से आंतरिक व्यापार को एवं हूण आक्रमण तथा रोम के साथ व्यापार अवरूद्ध हो जाने से विदेशी व्यापार को धक्का लगा।

♦ यातायात एवं संचार

वाणिज्य-व्यापार की समृद्धि में यातायात एवं संचार के साधनों का विशेष महत्व था। स्थलीय व्यापार में उत्तरापथ एवं दक्षिणापथ की, जबकि जलीय व्यापार में भड़ोंच एवं ताम्रलिप्ति जैसे बंदरगाहों की महत्वपूर्ण भूमिका थी।

♦ मुद्रा

गुप्त शासकों ने स्वर्ण, चांदी एवं तांबे के सिक्के जारी किए। प्राचीन भारत में सर्वाधिक स्वर्ण सिक्के जारी करने का श्रेय गुप्त शासकों को प्राप्त है। सिक्कों का अत्यधिक संख्या में पाया जाना वाणिज्य-व्यापार में हुई समृद्धि को दर्शाता है, किन्तु परवर्ती काल की मुद्राओं में मिलावट के साक्ष्य मिलते हैं। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि गुप्त काल के अंतिम चरण में अर्थव्यवस्था कमजोर हो गई।

♦ नगरीकरण

गुप्त काल में कृषि, शिल्प-उद्योग, वाणिज्य-व्यापार, मुद्रा आदि क्षेत्रों में हुई प्रगति ने नगरीकरण को भी प्रोत्साहित किया। इस काल में पाटलीपुत्र, उज्जैन, वैशाली आदि नगरों का विकास हुआ।

इस प्रकार गुप्त काल के प्रारंभिक चरण में आर्थिक क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति हुई, किन्तु अंतिम चरण तक जाते-जाते हमें अर्थव्यवस्था में अवनति के साक्ष्य प्राप्त होने लगते हैं।

□ धार्मिक जीवन

गुप्त काल धार्मिक समन्वय का काल था। इस काल में एक ओर जहां पूर्व काल की कुछ धार्मिक मान्यताएं और अधिक विकसित हुई, वहीं दूसरी ओर कुछ नवीन धार्मिक परम्पराएं भी स्थापित हुईं। गुप्तकालीन धर्म से जुड़ी महत्वपूर्ण विशेषताओं को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत देखा जा सकता है -

- 1) इस काल में ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान हुआ, परिणामस्वरूप यज्ञ एवं कर्मकाण्डों का महत्व पुनः स्थापित हो गया। उदाहरणार्थ - समुद्रगुप्त एवं कुमारगुप्त में अश्वमेघ यज्ञ करवाए।
- 2) मौर्योत्तर काल में उदित हुई भक्ति एवं अवतारवाद की अवधारणा का विकास हुआ।
- 3) मौर्योत्तर काल से प्रारंभ हुई मूर्ति पूजा की पद्धति का विकास हुआ।
- 4) गुप्तकालीन धर्म में पुरुष देवता के साथ कुछ स्त्री देवियां भी जुड़ गईं, जैसे - शिव के साथ उमा व पार्वती, विष्णु के साथ लक्ष्मी आदि।
- 5) इस काल में धार्मिक क्षेत्र में चिंतन एवं दर्शन का भी विकास हुआ। वस्तुतः इसी काल में भारत के प्रमुख षड्दर्शन का अंतिम रूप से संकलन हुआ। इन दर्शनों के नाम एवं प्रेरणा थे - सांख्य (कपिल), योग (पातंजलि), न्याय (गौतम), वैशेषिक (कणाद), मीमांसा (जैमिनी) एवं वेदांत (वादरायण)।
- 6) इस काल में जैन एवं बौद्ध धर्म के समान वैष्णव एवं शैव धर्म के भी कई सम्प्रदायों का उद्भव हुआ। उदाहरणार्थ - वैष्णव धर्म का प्रमुख सम्प्रदाय पांचरात्र था, जबकि शैव धर्म के प्रमुख सम्प्रदाय पाशुपत, कापालिक एवं कालामुख थे।

गुप्तकालीन शासक यद्यपि वैष्णव धर्म के अनुयायी थे, किन्तु वे अन्य धर्मों के प्रति भी सहिष्णु थे। गुप्त शासकों ने वैष्णव धर्म से प्रभावित होकर परम्भागवत की उपाधि धारण की एवं गरुण को अपना राजकीय चिह्न बनाया। गुप्त शासकों ने शैव धर्म को भी संरक्षण दिया। कुमारगुप्त एवं सकन्दगुप्त के नाम शिव के पुत्र कार्तिकेय के नाम पर ही आधारित थे। इस काल में शैव धर्म में कुछ नवीन तत्व दिखाई देते हैं, जैसे - शिव की पूजा पार्वती के साथ अर्द्ध नारीश्वर के रूप में की जाने लगी तथा शिव की पूजा विष्णु के साथ हरिहर के रूप में की जाने लगी। गुप्त काल में सूर्य पूजा भी प्रचलित थी। समकालीन साहित्यिक एवं पुरातात्विक स्रोतों से मंदसौर, इंदौर, ग्वालियर, माडास्यात (उत्तर प्रदेश), मूलस्थानपुर में सूर्य पूजा का उल्लेख प्राप्त होता है।

गुप्त शासकों ने जैन एवं बौद्ध धर्म को भी संरक्षण प्रदान किया। समुद्रगुप्त ने श्रीलंका के शासक मेघवर्मन को गया में बौद्ध विहार बनवाने की अनुमति दी थी। उसी प्रकार कुमारगुप्त ने नालंदा में प्रसिद्ध बौद्ध विहार की स्थापना करवाई थी। इस काल में जैन धर्म की भी उन्नति हुई। दक्षिण भारत में स्थित कदम्ब एवं गंग वंश शासकों ने जैन धर्म को आश्रय दिया। गुप्त शासक कुमारगुप्त के उदगिरि लेख से ज्ञात होता है कि शंकर नामक व्यक्ति ने पार्श्वनाथ की मूर्ति स्थापित की थी। गुप्त काल में ही सर्वनन्दी ने लोकविभंग तथा सिद्ध सेन न्यायवार्ता नामक जैन ग्रंथों की रचना की थी।

इस प्रकार गुप्त शासक विभिन्न धर्मों के महान संरक्षक हुए। गुप्त काल में वैष्णव एवं शैव धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों का भी विकास हुआ। इस काल के धर्म में कुछ ऐसे नवीन परिवर्तन भी हुए, जिनने वर्तमान के धर्म का स्वरूप निश्चित कर दिया।

□ सांस्कृतिक जीवन

गुप्त शासक न केवल साम्राज्य निर्माता थे, बल्कि कला एवं साहित्य के महान संरक्षक भी थे। गुप्तकालीन सांस्कृतिक जीवन की प्रमुख विशेषताओं को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत देखा जा सकता है -

♦ कला

गुप्त काल में **स्थापत्य कला** का अभूतपूर्व विकास हुआ। इस काल में ही मंदिर निर्माण कला का जन्म हुआ। ये मंदिर नागर शैली के हैं। मंदिर निर्माण चबूतरे के ऊपर किया जाता था तथा ऊपर जाने के लिए चारों ओर सीढ़ियां बनाई जाती थीं। मंदिर की छत प्रायः सपाट होती थी, किन्तु देवगढ़ के मंदिर में शिखर का निर्माण किया गया था। मंदिरों के निर्माण में प्रायः पत्थरों का प्रयोग किया जाता था, किन्तु भीतरगांव, सिरपुर तथा देवगढ़ स्थित मंदिरों के निर्माण में ईंटों का प्रयोग भी किया गया है। मंदिर का भीतरी भाग सादा होता था तथा गर्भगृह में देव मूर्ति की स्थापना की जाती थी। द्वारपाल के स्थान पर मकरवाहिनी गंगा एवं कूर्मवाहिनी यमुना की प्रतिमाएं बनी होती थीं। गुप्तकालीन प्रमुख मंदिर थे - देवगढ़ (उ. प्र.) का दशावतार मंदिर, भीतरगांव (उ. प्र.) का विष्णु व शिव मंदिर, सिरपुर (छ. ग.) का लक्ष्मण मंदिर, तिगवा (म. प्र.) का विष्णु मंदिर, नचनाकुठार (म. प्र.) का पार्वती मंदिर आदि।

गुप्त काल में **मूर्ति कला** निर्माण में भी उन्नति हुई। इस काल में गांधार एवं मथुरा कला शैली के समन्वय से सारनाथ मूर्ति कला शैली का विकास हुआ। इस कला शैली में मूर्तियों का निर्माण प्रायः लाल बलुआ पत्थर से किया गया था। मूर्तियों में भौतिकता की बजाय अध्यात्मिकता को अधिक महत्व दिया गया था। सारनाथ शैली में निर्मित मूर्तियों में सुसज्जित प्रभामण्डल बनाए गए थे। गुप्तकालीन मूर्ति कला का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण देवगढ़ के दशावतार मंदिर में प्राप्त होता है, जिसमें विष्णु को शेषनाग की शय्या पर दर्शाया गया है।

गुप्त काल में **चित्र कला** के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण अजंता एवं बाघ की गुफाओं से प्राप्त होते हैं। अजंता में 19 गुफाओं चित्र बने हैं, जिनमें से 16वीं, 17वीं एवं 19वीं गुफा के चित्र गुप्तकालीन हैं। 16वीं गुफा के चित्रों में मरणासन्न राजकुमारी का चित्र अत्यन्त सुन्दर है। 17वीं गुफा के चित्रों को चित्रशाला कहा गया है, जिसके चित्र मुख्यतः बुद्ध के जन्म, जीवन, गृहत्याग एवं महापरिनिर्वाण की घटनाओं से संबंधित हैं। उसी प्रकार मध्य प्रदेश के धार जिले में स्थित बाघ की गुफाओं से भी गुप्तकालीन चित्र कला पर प्रकाश पड़ता है। अजंता के चित्रों के विपरीत बाघ के चित्र मनुष्य के लौकिक जीवन से भी संबंधित हैं।

♦ साहित्य

गुप्त काल में साहित्य की अभूतपूर्व प्रगति हुई। पुराणों, रामायण एवं महाभारत को इसी काल में अंतिम रूप से लिखा गया। स्मृति-ग्रंथों, जैसे - नारद, बृहस्पति, कात्यायन एवं पाराशर स्मृति की रचना गुप्त काल में ही हुई।

गुप्त काल श्रेष्ठ कवियों का काल था, जिनमें हरिषेण, वत्सभट्ट एवं वीरसेन प्रमुख थे। हरिषेण ने प्रयाग-प्रशस्ति, वत्सभट्ट ने मंदसौर-प्रशस्ति एवं वीरसेन ने उदयगिरी गुहालेख की रचना की थी। किन्तु गुप्तकालीन सभी कवियों में सर्वश्रेष्ठ कवि एवं नाटकार कालिदास थे, जिन्हें भारत का शेक्सपियर कहा जाता है। कालिदास ने मालविकाग्निमित्र, अभिज्ञानशाकुंतलम, विक्रमोर्वशीयम (तीनों नाटक), रघुवंश, कुमारसंभव (दोनों महाकाव्य) तथा मैघदूत, ऋतुसंहार (दोनों खण्डकाव्य) की रचना की। इस काल में शूद्रक ने मृच्छकटिकम, विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस व देवीचन्द्रगुप्तम, वात्सायन ने कामसूत्र, कामन्दक ने नीतिसार तथा विष्णु शर्मा ने पंचतंत्र की रचना की थी।

♦ विज्ञान एवं तकनीक

गुप्त काल में चिकित्सा विज्ञान, रसायन विज्ञान, गणित एवं ज्योतिषी का भी अभूतपूर्व विकास हुआ। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के दरबार में धनवंतरि नामक महान चिकित्सक को आश्रय प्राप्त था। इस काल में वागभट्ट ने आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रंथ अष्टांगहृदय की रचना की थी। उसी प्रकार पालकाप्य ने पशु चिकित्सा हेतु हस्तायुर्वेद नामक ग्रंथ लिखा था। इस काल में बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन रसायन व धातु विज्ञान के महान विद्वान थे। गुप्त काल में ही आर्यभट्ट, भास्कर प्रथम, ब्रह्मगुप्त एवं वाराहमिहिर जैसे महान गणितज्ञ एवं ज्योतिषाचार्य हुए। आर्यभट्ट ने ही सर्वप्रथम यह बताया कि पृथ्वी गोल है और अपनी धुरी पर घुमती है, उन्होंने ही सूर्य ग्रहण व चन्द्र ग्रहण की सही व्याख्या प्रस्तुत की थी। उसी प्रकार ब्रह्मगुप्त ने सर्वप्रथम बताया कि पृथ्वी सभी वस्तुओं अपनी ओर आकर्षित करती है।

इस प्रकार गुप्त काल सांस्कृति उपलब्धियों का काल था। इस काल में कला, साहित्य एवं विज्ञान के क्षेत्र में अभूतपूर्व विकास हुआ। इस काल में हुए सांस्कृतिक विकास को देखते हुए ही कुछ इतिहासकारों ने गुप्त काल को स्वर्ण युग की संज्ञा दी है।

□ क्या गुप्त काल को स्वर्ण युग की संज्ञा दी जा सकती है?

गुप्त काल की उपलब्धियों का मूल्यांकन इतिहास लेखन की एक प्रमुख समस्या रही है। कुछ इतिहासकारों ने गुप्त काल की चातुर्विक्रम उपलब्धियों की ओर संकेत करते हुए इसे स्वर्ण युग की संज्ञा दी है, जबकि कुछ अन्य इतिहासकारों ने स्वर्ण युग जैसी अवधारणा को ही नकारा दिया है।

स्वर्ण युग की अवधारणा का समर्थन करने वाले इतिहासकार अपने मत के समर्थन में गुप्त काल की अनेक उपलब्धियों का उल्लेख करते हैं।

♦ राजनीतिक क्षेत्र

मौर्योत्तर काल के पश्चात् गुप्त काल में ही आकर राजनीतिक एकता के दर्शन होते हैं। समुद्रगुप्त एवं चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य जैसे शासकों ने एक अखिल भारतीय गुप्त साम्राज्य की स्थापना कर केन्द्रीकरण को बढ़ावा दिया। इसी काल में सर्वप्रथम न्यायिक विधानों को स्पष्ट एवं वर्गीकृत किया गया। साथ ही गुप्त शासकों ने साम्राज्य की सुरक्षा एवं विस्तार हेतु एक वृहद सेना का भी निर्माण किया, जिसमें पैदल एवं गज सेना के साथ-साथ अश्वारोही सेना को भी महत्व दिया गया।

कुछ इतिहासकारों ने गुप्त शासकों की साम्राज्यवादी नीति को राष्ट्रवाद जैसी अवधारणा के साथ जोड़कर देखा है तथा यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि गुप्त शासकों ने सम्पूर्ण राष्ट्र को एकता के सूत्र में पिरोने के लिए ही साम्राज्यवादी नीति को अपनाया था। साथ ही कुछ इतिहासकारों ने इस काल को हिन्दू पुनर्जागरण का युग भी माना है तथा यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि गुप्त शासकों ने शक, कुषाण आदि विदेशी शक्तियों को पराजित कर पुनः हिन्दू राज्य की स्थापना करने में सफलता प्राप्त की।

♦ आर्थिक क्षेत्र

गुप्त काल को आर्थिक प्रगति का काल भी माना जाता है। इस काल में भूमि अनुदान के माध्यम से कृषि भूमि का विस्तार हुआ। साथ ही शिल्प उद्योग एवं वाणिज्य-व्यापार को भी प्रोत्साहन मिला। गुप्त शासकों के अन्तर्गत भारत के व्यापारिक संबंध पश्चिम में अरब, ईरान, रोम एवं इथोपिया, जबकि पूर्व में चीन एवं दक्षिणी-पूर्वी एशिया के देशों के साथ मजबूत हुए। समुद्रगुप्त द्वारा बंगाल विजय एवं चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा गुजरात विजय के उपरान्त क्रमशः ताम्रलिप्ति एवं भड़ौच के बंदरगाह पर गुप्तों का अधिकार हो गया। इससे इन बंदरगाहों के माध्यम से होने वाले विदेशी व्यापार में गुप्त शासकों को अत्यधिक लाभ प्राप्त हुआ।

गुप्त काल में ही सबसे अधिक संख्या में स्वर्ण मुद्राएं जारी की गईं। यह तथ्य भी इस काल की विकसित अर्थव्यवस्था को प्रमाणित करता है। साथ ही इस काल में कई प्राचीन नगरों, जैसे - पाटलिपुत्र, वैशाली, उज्जैन, सारनाथ आदि का भी उन्नयन हुआ।

♦ सामाजिक क्षेत्र

गुप्त काल में सामाजिक क्षेत्र में भी कुछ सकारात्मक परिवर्तन हुए। इस काल में शुद्रों एवं दासों की स्थिति में तुलनात्मक रूप से सुधार हुआ। याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है कि शूद्रों के बदले नमः शब्द का प्रयोग कर पंचमहायज्ञ कर सकते थे। उसी प्रकार इस काल में सामंतवाद के कारण कृषि क्षेत्रों का विखण्डन हुआ। इससे छोटे कृषि क्षेत्रों में अधिक दास रखने की आवश्यकता नहीं रह गई थी। परिणामस्वरूप भूमि स्वामियों द्वारा बड़ी संख्या में कृषि दासों को दासता से मुक्त कर दिया गया।

♦ धार्मिक क्षेत्र

गुप्त शासक यद्यपि वैष्णव धर्म के अनुयायी थे, किन्तु उन्होंने अन्य धर्मों को भी संरक्षण प्रदान किया। इस काल में वैष्णव, शैव, जैन एवं बौद्ध धर्म का निरंतर विकास होता रहा। धर्म के क्षेत्र में चिंतन एवं दार्शनिक पद्धति को भी प्रोत्साहन मिला, यही कारण है कि गुप्त काल में ही षड्दर्शन का पूर्णतः विकास संभव हो सका।

♦ सांस्कृतिक क्षेत्र

गुप्त काल में सांस्कृतिक जीवन से जुड़े प्रत्येक पक्ष में अभूतपूर्व प्रगति हुई। गुप्त शासकों द्वारा अनेक मंदिरों का निर्माण करवाया गया, जैसे - देवगढ़ का दशावतार मंदिर, भीतरगांव का शिव व विष्णु मंदिर आदि। इस काल में सारनाथ शैली के अन्तर्गत कई देवी-देवताओं की सुन्दर मूर्तियां बनाई गईं। साथ ही चित्रकला के क्षेत्र में अजन्ता एवं बाघ की गुफाओं के सुन्दर एवं मनोरम चित्र गुप्त काल की सांस्कृतिक उपलब्धियों का बखान करते हैं।

गुप्त काल संस्कृत भाषा एवं साहित्य के क्षेत्र में भी प्रगति का युग था। इसी काल में अंतिम रूप से पुराणों, स्मृतियों, रामायण व महाभारत की रचना की गई। कालिदास, बाणभट्ट, शूद्रक, वात्सायन, विष्णु शर्मा आदि लेखकों की रचनाएं प्राचीन भारतीय इतिहास की सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक धरोहर मानी जाती हैं।

♦ विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी

गुप्त काल में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का भी अभूतपूर्व विकास हुआ। आर्यभट्ट, भास्कर, ब्रह्मगुप्त एवं वाराहमिहिर जैसे महान गणितज्ञ एवं ज्योतिषाचार्य, धनवंतरी जैसे चिकित्सक, नागार्जुन जैसे रसायनशास्त्री, दिङ्नाथ जैसे तर्कशास्त्री गुप्त काल में ही हुए।

इस प्रकार उपर्युक्त उपलब्धियां गुप्त काल को स्वर्ण युग प्रमाणित करती हैं। किन्तु इतिहासकारों का दूसरा वर्ग स्वर्ण युग संबंधी अवधारणा के विपक्ष में भी महत्वपूर्ण तर्क प्रस्तुत करते हैं।

राजनीतिक क्षेत्र में सामन्तवाद की उपस्थित एवं यातायात व संचार साधनों का अभाव जैसे तथ्य केन्द्रीकृत प्रशासनिक व्यवस्था के समक्ष गंभीर प्रश्न-चिह्न उपस्थित करते हैं। इस काल में न्यायिक विधान भी पम्परागत मान्यता एवं वर्ण व्यवस्था पर आधारित होते थे। समकालीन स्रोतों में उल्लेखित है कि ब्राह्मण की परीक्षा तुला से, क्षत्रीय की परीक्षा अग्नि से, वैश्य की परीक्षा जल से एवं शूद्र की परीक्षा विष से ली जाती थी। गुप्त शासकों द्वारा नियमित एवं प्रशिक्षित सेना का संगठन नहीं किया जा सका। यद्यपि गुप्त शासकों के पास एक विशाल सेना थी, किन्तु ज्यादातर सैनिक सामंतों के द्वारा ही उपलब्ध करवाए जाते थे।

जहां तक राष्ट्रीयता की बात है, तो गुप्त काल को पूर्णतः विदेशी प्रभाव से मुक्त भी नहीं माना जा सकता। वाराहमिहिर के सिद्धान्तों पर यूनानी प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। हिन्दू पूनर्जागरण जैसे शब्द भी तार्किक प्रतीत नहीं होते हैं, क्योंकि भारत के लोगों के संदर्भ में हिन्दू शब्द का प्रयोग गुप्त काल के पश्चात् अरबों के द्वारा किया गया था।

आर्थिक क्षेत्र में यद्यपि भूमि अनुदान पद्धति के कारण दूरस्थ क्षेत्र में कृषि योग्य भूमि का विस्तार हुआ था, किन्तु इस काल में भूमि के विखण्डन के फलस्वरूप कृषि उत्पादन में निश्चित ही कमी आई होगी। परवर्ती गुप्त काल में हमें शिल्प उद्योग, वाणिज्य-व्यापार, मुद्रा एवं नगरीकरण में पतन के साक्ष्य भी प्राप्त होते हैं।

उसी प्रकार सामाजिक क्षेत्र में यद्यपि शुद्रों की स्थिति में सुधार हुआ, किन्तु वर्णाश्रम व्यवस्था में उनका स्थान सबसे निम्न था। इस काल में अस्पृश्यता में भी विस्तार हुआ। यहां तक कि प्राचीन भारतीय इतिहास में महिलाओं की सामाजिक स्थिति सबसे निम्न गुप्त काल में ही मानी जाती है। इसी काल में सर्वप्रथम बाल विवाह, सती प्रथा, पर्दा प्रथा के स्पष्टतः साक्ष्य प्राप्त होते हैं।

जहां तक धार्मिक क्षेत्र में गुप्त शासकों द्वारा अपनाई गई धार्मिक सहिष्णुता की नीति का सवाल है, तो किसी भी अर्थ में गुप्त शासक अपने पूर्ववर्ती शासक अशोक के मुकाबले धार्मिक रूप से सहिष्णु नहीं माने जा सकते। स्थापत्य कला, मूर्ति कला, साहित्य, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी में हमें जो विकास दिखाई देता है, उसे हड़प्पा सभ्यता से प्रारंभ हुए विकास की निरंतर प्रक्रिया के रूप में ही देखा जाना चाहिए।

यद्यपि सांस्कृतिक स्तर पर गुप्त काल में अभूतपूर्व प्रगति हुई, किन्तु राजनीतिक, आर्थिक एवं समाजिक स्तर पर कुछ प्रगतिशील बातों के बावजूद यह युग सामन्तवादी दोषों, आर्थिक अवनति तथा उच्च वर्ग द्वारा निम्न वर्ण के शोषण का काल नजर आता है। सड़क पर लट्ठी ठोकते हुए व गले में ढोल डालकर चलते हुए लोग तथा सती होने वाली महिला के स्मरण मात्र से स्वर्ण युग की संकल्पना मिथ्या प्रतीत होती है।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि स्वर्ण युग जैसे शब्दों का प्रयोग ऐथेंस में पेरक्लीज एवं ब्रिटेन में एलिजाबेथ प्रथम के शासनकाल के संदर्भ में किया जाता था, किन्तु आधुनिक शोधों से इन कालों को भी स्वर्ण युग कहने पर प्रश्न-चिह्न उपस्थित हो गया है। अतः गुप्त काल के संदर्भ में स्वर्ण युग जैसे शब्दों का प्रयोग सावधानीपूर्वक किए जाने की आवश्यकता है।

□ गुप्त साम्राज्य का पतन

समुद्रगुप्त से लेकर स्कंदगुप्त तक गुप्त साम्राज्य अक्षुण्ण रहा, किन्तु इसके पश्चात् साम्राज्य का विभाजन प्रारंभ हो गया। गुप्त साम्राज्य के पतन के पीछे निम्नलिखित कारकों को उत्तरदायी माना जाता है -

♦ हूण आक्रमण

भारत में प्रथम हूण आक्रमण कुमारगुप्त प्रथम के शासन काल में हुआ था, किन्तु उसके पुत्र स्कंदगुप्त ने हूणों को पराजित कर पीछे धकेल दिया था। आगे हूण सरदार तोरमाण एवं मिहिरकुल ने उत्तर-पश्चिम भारत के अधिकांश भागों में अधिपत्य स्थापित कर लिया। इस प्रकार हूणों के निरंतर आक्रमण से गुप्तों की शक्ति का हास हुआ, परिणामस्वरूप विघटन की प्रक्रिया प्रारंभ हो गई।

♦ गुप्तकालीन प्रशासन में निहित दोष

गुप्तकालीन प्रशासन में कई अन्तर्निहित खामियां थीं। उदाहरणार्थ - उच्च प्रशासनिक पद वंशानुगत होते थे तथा एक ही व्यक्ति के पास कई पद भी होते थे। इसके कारण प्रशासन में अयोग्य व्यक्ति नियुक्त होते गए, जिससे शासन तंत्र में शिथिलता आ गई।

♦ सामंतवाद

मौर्योत्तर काल से प्रारंभ हुई भूमि अनुदान की पद्धति एवं समुद्रगुप्त की दक्षिण राज्यों के प्रति अपनाई गई ग्रहणमोक्षानुग्रह की नीति ने सामंतवाद के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। फिर गुप्त काल के अंतिम चरण में वाणिज्य-व्यापार में आई कमी के कारण जब प्रशासनिक अधिकारियों को नकद वेतन के बदले भूमि का एक टुकड़ा दिया जाने लगा, तो इससे भी सामंतवादी प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला। ये समांत महाराज की उपाधि धारण करते थे, सेना रखते थे तथा अपने भू-क्षेत्र में कर की वसूली करते थे। इससे जहां एक ओर केन्द्र को प्राप्त होने वाले राजस्व में कमी आई, वहीं दूसरी ओर केन्द्रीय सेना की कार्यकुशलता भी प्रभावित हुई। आगे केन्द्रीय शक्ति के कमजोर होने के साथ ही इन सामंतों द्वारा अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी गई, परिणामस्वरूप गुप्त साम्राज्य का पतन हो गया।

♦ वाणिज्य-व्यापार में गिरावट

गुप्त शासन के अंतिम चरण में सामंतवाद के उद्भव के कारण आंतरिक व्यापार एवं मध्य एशिया में हूणों के अधिकार के कारण बाह्य व्यापार में गिरावट आई। आर्थिक संकट ने गुप्त शासकों की सैन्य शक्ति को कमजोर कर दिया था, जिससे विघटनाकारी तत्वों को प्रोत्साहन मिला।

♦ सामाजिक असंतोष

प्रशासनिक बुराइयों एवं वर्णाश्रम व्यवस्था की कठोरता ने निम्न वर्ण के लोगों में असंतोष को जन्म दिया। इससे जनता में राज्य के प्रति निष्ठा में कमी आई तथा विघटनाकारी शक्तियों को प्रोत्साहन मिला।

♦ धार्मिक असंतोष

यद्यपि गुप्त शासक वैष्णव धर्म के अनुयायी थे, किन्तु कुमारगुप्त एवं भानुगुप्त शासकों के द्वारा बौद्ध धर्म की उन्नति हेतु भी कई प्रयास किए गए। उदाहरणार्थ - कुमारगुप्त प्रथम ने नालंदा में बौद्ध विहार का निर्माण करवाया। राज्य द्वारा बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में प्रभावी भूमिका निभाने के कारण जहां राज्य का खजाना खाली होता गया, वहीं ब्राह्मण धर्म की बहुसंख्यक जनता में भी असंतोष उत्पन्न हुआ। इस प्रकार गुप्त शासकों द्वारा बौद्ध धर्म को दिए गए संरक्षण ने भी गुप्त साम्राज्य के पतन की प्रक्रिया को तीव्र कर दिया।

♦ अयोग्य उत्तराधिकारी

परवर्ती गुप्त शासक निर्बल एवं अयोग्य थे। इससे वे राज्य का आर्थिक एवं सैनिक आधार कमजोर कर सके और न ही सामंतों एवं हूणों द्वारा प्रारंभ की गई राज्य के विघटन की प्रक्रिया को रोक सके।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि हूण आक्रमण एवं सामंतवाद के कारण राज्य की विघटन की प्रक्रिया प्रारंभ हुई थी, जिसे आर्थिक संकट एवं सामाजिक व धार्मिक असंतोष ने और अधिक बढ़ा दिया था। विघटन की इस प्रक्रिया को कमजोर एवं निर्बल परवर्ती गुप्त शासक रोकने में असफल रहे। परिणामस्वरूप उत्तर भारत में अनेक क्षेत्रीय राज्यों, जैसे - वल्लभी में मैत्रक वंश, मालवा व मगध में उत्तर गुप्त वंश, कन्नौज में मौखरि वंश, थानेश्वर में पुष्पभूति वंश के राजाओं ने अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली।

□ समुद्रगुप्त की उपलब्धियां

समुद्रगुप्त की उपलब्धियों की जानकारी मुख्यतः हरिषेण की प्रयाग प्रशस्ति तथा स्वयं समुद्रगुप्त द्वारा जारी किए सिक्कों से मिलती है। समुद्रगुप्त की उपलब्धियों को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत देखा जा सकता है -

♦ सैन्य उपलब्धि

चन्द्रगुप्त प्रथम के राज्य काल तक गुप्तों की सत्ता बिहार एं पूर्वी उत्तर प्रदेश के छोटे से भाग तक ही सीमित थी। किन्तु समुद्रगुप्त जैसे महत्वाकांक्षी सम्राट ने दिग्विजय की नीति अपनाई तथा एक वृहद गुप्त साम्राज्य की स्थापना की। समुद्रगुप्त सैन्य अभियानों को 5 चरणों में विभाजित करके देखा जा सकता है -

- 1) **आर्यावर्त की विजय** - प्रथम चरण में समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त के कुल 12 राज्यों को विजित किया तथा इन राज्यों के विरुद्ध प्रसभोद्धरण की नीति अपनाई, अर्थात् - इन राज्यों का बलात् उन्मूलन कर उन्हें अपने साम्राज्य में मिला लिया।
- 2) **दक्षिणापथ की विजय** - द्वितीय चरण में समुद्रगुप्त ने दक्षिणापथ के 12 राज्यों को विजित किया तथा इन राज्यों के विरुद्ध ग्रहणमोक्षानुग्रह की नीति अपनाई गई, अर्थात् - विजय के बाद उनके राज्य वापस कर दिए गए। समुद्रगुप्त द्वारा दक्षिण विजय के संदर्भ में अपनाई गई ग्रहणमोक्षानुग्रह की नीति उसकी व्यवहारिक सोच को इंगित करती है। वस्तुतः बिना विकसित यातायात एवं संचार के साधनों के पाटलिपुत्र से दक्षिण के राज्यों पर नियंत्रण असंभव था। इसी कारण समुद्रगुप्त ने इन राज्यों को अपने साम्राज्य में शामिल नहीं किया। आगे अलाउद्दीन खिलजी ने भी दक्षिण के राज्यों के संदर्भ में इसी नीति का अनुसरण किया।
- 3) **आटविक राज्यों की विजय** - तृतीय चरण में समुद्रगुप्त ने मध्य प्रदेश व उत्तर प्रदेश में स्थित आटविक राज्यों को विजित किया तथा इन राज्यों के विरुद्ध परिचारिकीकृत की नीति अपनाई, अर्थात् - इन राज्यों को अपना सेवक बना लिया।
- 4) **सीमावर्ती राज्यों की विजय** - चतुर्थ चरण में समुद्रगुप्त ने उत्तर व पूर्वी सीमा पर स्थित 5 राज्यों को विजित किया तथा इन राज्यों के विरुद्ध सर्वकरदानाज्ञाकरणप्रणामागमन... की नीति अपनाई, अर्थात् - ये राज्य समुद्रगुप्त को सभी प्रकार के कर देते थे, उसकी आज्ञाओं का पालन करते थे तथा उसे प्रणाम करने के लिए राजधानी में उपस्थित होते थे। 5 सीमावर्ती राज्य थे - समतट (बांग्लादेश), डवाक् (असम), कामरूप (असम), कर्तुपुर (हरियाणा) तथा नेपाल।

आटविक एवं सीमावर्ती राज्यों के प्रति अपनाई गई नीति भी समुद्रगुप्त की योग्यता एवं व्यवहारिक सोच को इंगित करती है। चूंकि ये अविकसित क्षेत्र थे तथा यहां की जनता की सामाजिक एवं धार्मिक मान्यताएं अलग थीं। अतः इन राज्यों को गुप्त साम्राज्य में शामिल करने से राज्य के समक्ष नवीन चुनौतियां उत्पन्न हो सकती थीं, जबकि राज्य को इनसे कोई विशेष आर्थिक लाभ नहीं था। यही कारण है कि समुद्रगुप्त ने इन राज्यों को अपने साम्राज्य में शामिल न करते हुए इन्हें अपनी आज्ञा का पालन करने हेतु ही बाध्य किया।

- 5) **विदेशी राज्यों की विजय** - पंचम चरण में समुद्रगुप्त ने 5 विदेशी राज्यों - देवपुत्र (कुषाण), शक, मुरुण्ड, सिंहल (श्रीलंका) एवं सर्वद्वीप (दक्षिण-पूर्व एशिया के द्वीप) को विजित कर इनके विरुद्ध आत्मनिवेदनकन्योपायनयाचनाद्युपाय की नीति अपनाई, अर्थात् - ये राज्य स्वयं को सम्राट की सेवा में उपस्थित करते थे, अपनी कन्याओं का दान देते थे तथा अपने राज्यों में शासन करने हेतु गरुण मुद्रा से अंकित राजाज्ञा के लिए प्रार्थना करते थे।

इस प्रकार समुद्रगुप्त ने उत्तर भारत में एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। साथ ही श्रीलंका एवं दक्षिणी-पूर्वी एशिया के द्वीपों पर भी समुद्रगुप्त का प्रभाव स्थापित था। समुद्रगुप्त को कभी भी पराजय का सामना नहीं करना पड़ा, इसलिए विंसेंट स्मिथ ने समुद्रगुप्त को भारत का नेपोलियन कहा है। किन्तु समुद्रगुप्त की साम्राज्यवादी नीति नेपोलियन की साम्राज्यवादी नीति से भी श्रेष्ठ थी। जहां नेपोलियन की साम्राज्यवादी नीति से उसका पतन हो गया, वहीं समुद्रगुप्त की साम्राज्यवादी नीति से उसके यश एवं कीर्ति में वृद्धि हुई।

♦ धार्मिक उपलब्धि

यद्यपि समुद्रगुप्त ब्राह्मण धर्म का अनुयायी था, किन्तु उसने अन्य धर्मों के विकास को भी प्रोत्साहित किया। उदाहरणार्थ - समुद्रगुप्त ने श्रीलंका के शासक मेघवर्मन को गया में बौद्ध विहार बनाने की अनुमति दी थी।

♦ सांस्कृतिक उपलब्धि

समुद्रगुप्त ने अपने राज दरबार में विभिन्न विद्वानों को संरक्षण दिया। उदाहरणार्थ – प्रयाग प्रशस्ति का लेखक हरिषेण एवं प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान वसुबंधु। समुद्रगुप्त स्वयं भी कुशल संगीतकार था। उसके कुछ ऐसे सिक्के प्राप्त हुए हैं, जिन पर उसे वीणा बजाते हुए दिखाया गया है। यही कारण है कि समुद्रगुप्त को कविराज की उपाधि भी प्राप्त थी।

समुद्रगुप्त ने मुद्रा के विकास में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। उसके शासनकाल में अनेक प्रकार की मुद्राएं जारी की गईं। उदाहरणार्थ – अश्वमेध प्रकार के सिक्के।

इस प्रकार समुद्रगुप्त गुप्तकालीन शासकों में एक महान शासक था। उसकी उपलब्धियां केवल सैनिक विजयों तक ही सीमित नहीं थी, बल्कि धर्म, साहित्य एवं कला के क्षेत्र में भी उसका महत्वपूर्ण योगदान था।

□ चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की उपलब्धियां

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की उपलब्धियों को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत समझा जा सकता है –

♦ वैवाहिक संबंधों की नीति

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने वैवाहिक सम्बंधों और विजयों के द्वारा अपने साम्राज्य की सीमा बढ़ाई। उसने निम्नलिखित राजवंशों में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए –

- 1) **नागवंश** – यह राजवंश मथुरा, अहिच्छत्र, पद्मावती आदि क्षेत्रों में स्थित था। विक्रमादित्य ने नाग राजकुमारी कुबेरनागा से विवाह किया, जिससे एक कन्या प्रभावती गुप्त उत्पन्न हुई।
- 2) **वाकाटक वंश** – वाकाटक लोग आधुनिक महाराष्ट्र प्रान्त में शासन करते थे। वाकाटकों का सहयोग प्राप्त करने के लिए चन्द्रगुप्त ने अपनी पुत्री प्रभावती गुप्त का विवाह वाकाटक नरेश रुद्रसेन द्वितीय के साथ कर दिया। वाकाटकों तथा गुप्तों की सम्मिलित शक्ति ने शकों का उन्मूलन कर डाला।
- 3) **कदम्ब राजवंश** – कदम्ब राजवंश के लोग कुन्तल (कर्नाटक) में शासक करते थे। कदम्ब वंश के शासक काकुत्सवर्मन ने अपनी एक पुत्री का विवाह चन्द्रगुप्त द्वितीय के पुत्र कुमारगुप्त प्रथम से कर दिया।

♦ सैन्य विजय

मेहरौली स्थित लौह स्तम्भ में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के द्वारा सिन्धु नदी के उस पार बाहलीकों के विरुद्ध और पूर्व में बंग शासकों के विरुद्ध विजय का वर्णन किया गया है। बंग की पहचान बंगाल तथा बाहलीकों की पहचान बल्ख से की जाती है। इसके उपरान्त चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उज्जयिनी के अन्तिम शक शासक रुद्रसिंह तृतीय को 409 ई. में पराजित किया। इस विजय के उपलक्ष्य में उसने मालवा क्षेत्र में व्याघ्र शैली के चांदी के सिक्के चालाए। ये सिक्के उसकी शकों पर विजय के सूचक हैं।

♦ धार्मिक समन्वय की नीति

यद्यपि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य बौद्ध धर्म का अनुयायी था, उसने परम्भागवत की उपाधि धारण की थी, किन्तु अन्य धर्मों के प्रति भी उसने सहिष्णुता की नीति अपनाई। उदयगिरि लेख से ज्ञात होता है कि उसका युद्ध सचिव वीर सेन शैव था तथा सांची अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसका एक अन्य महत्वपूर्ण अधिकारी आम्रकार्दव बौद्ध था। चीनी बौद्ध यात्री फाह्यान ने भी चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय ही भारत की यात्रा की थी।

♦ सांस्कृतिक उपलब्धि

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के उज्जैन दरबार में 9 विद्वानों की एक मण्डली निवास करती थी, जिसे नवरत्न कहा गया। इसमें कालिदास, धन्वतरि, बाराहमिहिर, अमरसिंह, क्षपणक, शंकु, बेतालभट्ट, घटर्परक, वररूचि जैसे विद्वान थे।

कला एवं स्थापत्य के विकास में भी चन्द्रगुप्त द्वितीय की पर्याप्त रुचि थी। मेहरौली का लौह स्तम्भ लेख इसकी पुष्टि करता है। साथ ही चन्द्रगुप्त द्वितीय ने मुद्रा के विकास में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अत्यधिक संख्या में स्वर्ण, रजत एवं ताम्र मुद्राएं जारी की।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की उपलब्धियां उसे एक महान गुप्त शासक साबित करती हैं। वस्तुतः अगर गुप्त काल के लिए स्वर्ण युग जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाए, तो निश्चित रूप से यह काल चन्द्रगुप्त द्वितीय का ही होगा।

गुप्तोत्तर काल Post Gupta Period

गुप्त साम्राज्य के पतन के उपरान्त अनेक क्षेत्रीय राज्यों की स्थापना हुई, जैसे - कन्नौज में मौखरि वंश, मगध एवं मालवा में उत्तर गुप्त वंश, बंगाल में गौड़ वंश, वल्लभी में मैत्रक वंश, स्थानेश्वर में पुष्पभूति वंश आदि। इनमें से सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थानेश्वर का पुष्पभूति वंश था। इसे वर्धन वंश के नाम से भी जाना जाता है।

वर्धन वंश का प्रथम स्वतंत्र शासक प्रभाकरवर्धन था, जिसके 2 पुत्र - राज्यवर्धन व हर्षवर्धन तथा एक पुत्री राजश्री थी। राजश्री का विवाह कन्नौज के शासक ग्रहवर्मन के साथ हुआ था। प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के उपरान्त राज्यवर्धन ने स्थानेश्वर की राजगद्दी संभाली। इसके शासनकाल में मालवा के उत्तर गुप्त शासक देवगुप्त ने बंगाल के गौड़ वंश के शासक शशांक के साथ मिलकर कन्नौज के शासक ग्रहवर्मन की हत्या कर दी तथा राजश्री को कारागृह में डाल दिया।

गृहवर्मन की हत्या का बदला लेने हेतु राज्यवर्धन ने देवगुप्त पर आक्रमण कर उसे मार डाला, किन्तु बंगाल के शासक शशांक ने षड्यंत्रपूर्वक अपने राजदरबार में बुलाकर राज्यवर्धन की हत्या कर दी। ऐसी ही विषम परिस्थिति में हर्षवर्धन ने स्थानेश्वर की राजगद्दी प्राप्त की।

□ हर्षवर्धन की उपलब्धियां

606 ई. में हर्षवर्धन के राज्यारोहण के उपरान्त उसने सर्वप्रथम कारागृह से भागकर सती होने को जा रही अपनी बहन राजश्री को बचाया तथा उसे कन्नौज लेकर आया। कन्नौज के सरदारों ने हर्षवर्धन को कन्नौज का राजमुकुट भी प्रदान किया। इस तरह स्थानेश्वर और कन्नौज की शक्ति मिल गई और आगे साम्राज्य निर्माण की प्रक्रिया आरंभ हो गई।

हर्षवर्धन (606 ई.-647 ई.) की उपलब्धियों की जानकारी बाणभट्ट की हर्षचरित व कादम्बरी, ह्वेनसांग के यात्रा विवरण, मधुवन व बांसखेड़ा अभिलेख, नालन्दा व सोनीपत से प्राप्त हर्ष की मुद्राओं से प्राप्त होती है। हर्षवर्धन की उपलब्धियों को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत समझा जा सकता है -

♦ सैन्य उपलब्धियां

हर्षवर्धन के सैन्य अभियानों के मुख्यतः 4 उद्देश्य थे -

- | | |
|---|---|
| 1) पुष्पभूति वंश की प्रतिष्ठा को पुनर्स्थापित करना। | 2) चक्रवर्ती सम्राट की उपाधि धारण करना। |
| 3) वृहद साम्राज्य का निर्माण करना। | 4) शशांक को मारकर राज्यवर्धन की हत्या का बदला लेना। |

हर्षवर्धन ने कई चरणों में अपने सैन्य अभियान किए। प्रथम चरण में हर्षवर्धन ने पूर्वी भारत का अभियान किया। इस अभियान का उद्देश्य शशांक को दंडित करना एवं स्वतंत्र हो चुके क्षेत्रों को पुनः विजित करना था। इस अभियान के दौरान हर्षवर्धन को कामरूप के शासक भास्करवर्मन का सहयोग भी प्राप्त हुआ। हर्ष एवं शशांक के मध्य हुए युद्ध का परिणाम अस्पष्ट है, किन्तु ऐतिहासिक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि 619-20 ई. में शशांक की मृत्यु के बाद ही हर्ष ने बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा पर अधिकार प्राप्त किया था। पूर्वी अभियान के क्रम में मगध के शासक पूर्ववर्मन ने तथा कामरूप के शासक भास्करवर्मन ने हर्ष की आधीनता स्वीकार कर ली थी।

इसके पश्चात् हर्ष ने पश्चिम भारत का अभियान किया। इस अभियान में हर्ष ने पंजाब में व्यास नदी तक के विभिन्न क्षेत्रों को अपनी आधीनता में लाया, जिनमें प्रमुख थे - अतरंजीखेड़ा, मथुरा, जालंधर, मतिपुर आदि। इस प्रकार हर्षवर्धन ने 606 ई.-612 ई. के मध्य पूर्व तथा पश्चिम भारत का अभियान पूर्ण किया।

इसके उपरान्त हर्ष ने सिन्ध का अभियान कर वहां से धन वसूला। आगे 620 ई. में शशांक की मृत्यु के उपरान्त बंगाल पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। 630 ई. में हर्ष ने वल्लभी पर आक्रमण करके ध्रुवसेन को पराजित किया, किन्तु ध्रुवसेन के साथ अपनी पुत्री का विवाह कर उसे अपना मित्र बना लिया।

630 ई.-634 ई. के मध्य हर्षवर्धन ने दक्षिण भारत का अभियान किया, किन्तु रविकीर्ति के एहोल अभिलेख से ज्ञात होता है कि हर्षवर्धन वादामी के चालुक्य शासक पुलकेशिन द्वितीय से पराजित हुआ। इस प्रकार नर्मदा नदी के दक्षिण में साम्राज्य विस्तार का उसका सपना टूट गया। इसके उपरान्त हर्षवर्धन ने कश्मीर का अभियान किया तथा वहां से बुद्ध का दांत लेकर आया। फिर नेपाल की विजय की तथा अंत में 640 ई. में उड़ीसा पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

इस प्रकार हर्ष के साम्राज्य में बंगाल, बिहार, उड़ीसा, मालवा आदि क्षेत्र शामिल थे तथा वल्लभी, सिन्ध, कश्मीर, नेपाल, कामरूप आदि क्षेत्रों पर भी उसका प्रभाव था।

♦ धार्मिक उपलब्धियां

हर्षचरित एवं ह्वेनसांग के विवरण से ज्ञात होता है कि हर्ष के पूर्वज शिव एवं सूर्य के उपासक थे। कल्हण की राजतरंगिणी के अनुसार हर्ष प्रारंभ में शैव था। किन्तु आगे ह्वेनसांग के प्रभाव में महायान बौद्ध धर्म का अनुयायी बन गया। हर्षवर्धन ने बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु अनेक कार्य किए, जैसे - अनेक स्तूपों, विहारों का निर्माण करवाया, नालंदा विश्वविद्यालयों को कई गांव दान में दिए आदि। किन्तु इसके साथ ही साथ हर्षवर्धन ने विभिन्न धर्मों को भी संरक्षण प्रदान किया। उदाहरणार्थ - हर्ष प्रत्येक 5वें वर्ष प्रयाग में महामोक्षपरिषद् का आयोजन करवाता था। इसमें बुद्ध, सूर्य एवं शिव की पूजा होती थी तथा समारोह के अंत में हर्ष द्वारा विभिन्न धर्मों के श्रद्धालुओं को दान-दक्षिणा दी जाती थी। उसी प्रकार हर्ष प्रत्येक वर्ष कन्नौज में धर्मपरिषद् का आयोजन करवाता था, जिसमें विभिन्न धर्मों के विद्वान उपस्थित होते थे। इस समारोह के उपरान्त भी सभी धर्मों के अनुयायियों में धन का वितरण किया जाता था। इस प्रकार व्यक्तिगत रूप से बौद्ध धर्म का अनुयायी होने के बावजूद हर्ष ने सभी धर्मों के लोगों में दान-दक्षिणा का वितरण तथा सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता की नीति अपनाई।

♦ सांस्कृतिक उपलब्धियां

हर्ष विद्वानों का संरक्षक था। उसके राजदरबार में वाणभट्ट, मयूर एवं मातंगदिवाकर जैसे विद्वानों को संरक्षण प्राप्त था। बौद्ध विद्वान ह्वेनसांग ने भी हर्ष का संरक्षण प्राप्त किया। हर्षवर्धन ने स्वयं भी रत्नावली, नागानन्द एवं प्रियदर्शिका नामक नाटकों की रचना की।

इसके अतिरिक्त हर्ष ने अनेक मंदिरों, मठों एवं बौद्ध विहारों का निर्माण करवाया, जो धार्मिक केन्द्रों के साथ-साथ शिक्षा केन्द्रों की भी भूमिका निभाते थे। ह्वेनसांग के अनुसार हर्ष अपनी राजकीय आय का 1/4 भाग विद्वानों पर खर्च करता था।

♦ अन्य उपलब्धियां

हर्षवर्धन ने लोककल्याण के क्षेत्र में भी अनेक महत्वपूर्ण कार्य किए, जैसे - सड़कों, तालाबों, कुओं आदि का निर्माण एवं मरम्मत। हर्षवर्धन ने चीन के साथ भी मधुर संबंध स्थापित किए तथा दोनों पक्षों के मध्य राजदूतों का आदान-प्रदान हुआ।

उपर्युक्त उपलब्धियों के बावजूद हर्ष के शासनकाल की कुछ सीमाएं भी हैं, जिन्हें निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत देखा जा सकता है -

- 1) हर्षवर्धन शशांक एवं पुलकेशिन द्वितीय को युद्ध में पराजित नहीं कर सका।
- 2) नेपाल, सिन्ध एवं कश्मीर पर उसकी विजय के स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलते हैं।
- 3) हर्षवर्धन प्रशासन में सामंती प्रभाव को नहीं रोक सका।
- 4) वह स्थायी सेना का निर्माण भी नहीं कर सका।
- 5) उसके द्वारा लिखित तीनों नाटकों का श्रेय किसी धावक नामक कवि को दिया जाता है।

इन सीमाओं के बावजूद हर्ष की उपलब्धियों का महत्व कम नहीं होता है। वस्तुतः सामन्तवाद का प्रारंभ तो सातवाहन काल में ही हो चुका था। गुप्त काल तथा हर्षवर्धन काल में इसका और अधिक विस्तार हुआ। अतः सामन्तवाद के प्रसार को पूर्व काल से चली आ रही प्रवृत्ति का विकास माना जाना चाहिए। किन्तु हर्ष की सफलता इस बात में है कि सामंती वातावरण में भी उसने एक वृहद, सम्पन्न एवं खुशहाल साम्राज्य की स्थापना की।

संगम युग (200 ई. पू. -300 ई.)

संगम युग से आशय दक्षिण भारत के इतिहास के एक निश्चित कालखण्ड से है, जो 200 ई. पू. से 300 ई. तक माना जाता है ।

□ संगम साहित्य

100 ई. से 250 ई. के मध्य दक्षिण भारत में पाण्ड्य वंश के राजाओं ने 3 सभाओं या गोष्ठियों का आयोजन करवाया था, जिनमें तमिल कवियों एवं विद्वानों के मध्य विभिन्न विषयों पर विचार-विमर्श किया जाता था। इन सभाओं या गोष्ठियों को ही 'संगम' तथा इनमें लिखे गए साहित्य को 'संगम साहित्य' के नाम से जाना जाता है ।

प्रथम संगम का आयोजन मदुरै में ऋषि अगस्त की अध्यक्षता में हुआ था। दुर्भाग्यवश इस संगम में संकलित कोई भी तमिल साहित्य उपलब्ध नहीं है। द्वितीय संगम का आयोजन कपाटपुरम् (अलवै) में ऋषि अगस्त की अध्यक्षता में हुआ था। इस संगम में संकलित सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ तोल्काप्पियम् (तमिल व्याकरण) था, जिसकी रचना ऋषि अगस्त के शिष्य तोल्काप्पियर ने की थी। तृतीय संगम का आयोजन मदुरै में नक्कीर की अध्यक्षता में हुआ था। इस संगम में कई तमिल ग्रंथों का संकलन किया गया था।

तमिल साहित्य में तिरुवल्लुवर द्वारा लिखित 'कुराल' एक अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। संगम युग में कई महाकाव्यों की भी रचना की गई थी, किन्तु उन्हें संगम साहित्य के अन्तर्गत शामिल नहीं किया जाता है। संगम युग के कुछ महत्वपूर्ण महाकाव्य थे - इलांगो द्वारा रचित शिल्पादिकारम्, सीतलैसत्तनार द्वारा रचित मणिमेखलै तथा तिरुत्तकदेवर द्वारा रचित जीवकचिन्तामणि।

□ राजनीतिक स्थिति

संगम युग में दक्षिण भारत में मुख्यतः 3 राजवंशों का शासन था -

- 1) **चोल** - चोल राज्य की राजधानी उरैयूर थी तथा इस वंश का सबसे प्रमुख शासक करिकाल हुआ।
- 2) **चेर** - चेर राज्य की राजधानी करूर थी तथा इस वंश के प्रमुख शासक उदियंजीरल, नेन्दुजीरल एवं सेनगुट्टवन हुए।
- 3) **पाण्ड्य** - पाण्ड्य राज्य की राजधानी मदुरै थी तथा इस वंश का सबसे प्रमुख शासक नेन्दुजेलियन हुआ।

संगम काल में राजनीतिक व्यवस्था राजतंत्रात्मक थी। सम्पूर्ण प्रशासन का प्रमुख राजा होता था। राजा का पद वंशानुगत होता था, जो ज्येष्ठता पर आधारित था। अपने जीवनकाल में ही राजा युवराज की नियुक्ति कर देते थे। राजा के निःसंतान मरने पर मंत्रियों तथा प्रजा द्वारा राजा का चुनाव किया जाता था। राज्याभिषेक का प्रचलन नहीं था, लेकिन राजा के सिंहासनारूढ़ होने के समय उत्सव का आयोजन किया जाता था।

राजा अपने परामर्शदाताओं की सहायता से शासन कार्य का संचालन करते थे। मुख्य परामर्शदाता थे - पुरोहित, वैश्य, ज्योतिष एवं मंत्रीगण। राजा सबसे बड़ा न्यायाधीश होता था। दण्ड व्यवस्था अत्यन्त कठोर थी। राजा के पास रथ, हाथी, अश्व तथा पैदल सेना के 4 अंग होते थे। शहीद सैनिकों की याद में शिलापट्ट लगाए जाते थे। वीरगति प्राप्त योद्धाओं की पाषाण मूर्तियां बनाकर देवताओं की तरह उनकी पूजा की जाती थी। सेनापतियों को एनाडि की उपाधि दी जाती थी। राजा शासन कार्य के संचालन में गुप्तचरों की भी सहायता लिया करता था। नगर एवं ग्राम प्रशासन की मुख्य इकाइयां थीं, जहां का प्रशासन स्थानीय जनप्रतिनिधियों द्वारा चलाया जाता था। नगर एवं ग्राम प्रशासन क्रमशः 'उर' एवं 'मन्नरम्' नामक संस्था के द्वारा संचालित किया जाता था।

□ आर्थिक स्थिति

♦ कृषि

कृषि अर्थव्यवस्था का मूलाधार थी। चावल, राई, गन्ना, कपास, काली मिर्च, हल्दी आदि की खेती की जाती थी। इस समय नदियों तथा तालाबों के द्वारा सिंचाई की जाती थी। भूमिकर राज्य की आय का प्रमुख साधन था, जो उपज का 1/6 भाग होता था। भूमिकर को 'कराई' कहा जाता था।

♦ वाणिज्य-व्यापार

आंतरिक एवं विदेशी व्यापार दोनों का प्रचलन था। आंतरिक व्यापार मुख्यतः वस्तु-विनिमय प्रणाली के माध्यम से किया जाता था। विदेशी व्यापार मुख्यतः रोम, अरब, मिस्र तथा दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों के साथ किया जाता था। संगम राज्य काली मिर्च, हांथी दांत, औषधियों, मोती तथा सूती-वस्त्र का निर्यात, जबकि सोना, शराब तथा घोड़ों का आयात करते थे। विदेशी व्यापार में बंदरगाहों की महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। इस युग के प्रमुख बंदरगाह मदुरै, कोरकई, शालियूर, पुहार (कावेरिपट्टनम्), मुजरिस आदि थे।

♦ उद्योग-धंधे

उद्योग-धंधों का भी प्रचलन था। सबसे महत्वपूर्ण उद्योग वस्त्र-उद्योग था। उरैयूर तथा मदुरई वस्त्र उद्योग के प्रमुख केन्द्र थे। वस्त्र उद्योग के अतिरिक्त रस्सी बनाना, हाथी दांत की वस्तुएं बनाना, जहाज निर्माण, सोने के आभूषण बनाना तथा समुद्र से मोती निकालने का कार्य भी किया जाता था।

♦ मुद्रा

आंतरिक व्यापार मुख्यतः वस्तु-विनिमय द्वारा, जबकि बाह्य व्यापार मुख्यतः चांदी एवं तांबे के आहत सिक्कों द्वारा किया जाता था।

□ सामाजिक स्थिति

♦ वर्णव्यवस्था

संगम साहित्यों के अनुसार इस समय समाज में वर्ण व्यवस्था का स्पष्ट विभाजन नहीं था, फिर भी समाज में ब्राह्मणों को सम्मानजनक स्थान प्राप्त था। क्षत्रिय और वैश्य वर्ण नहीं थे। ब्राह्मणों के अतिरिक्त समाज में 4 अन्य वर्गों की भी जानकारी मिलती है - शासक वर्ग, वणिक वर्ग, प्रतिष्ठित लोगों का वर्ग, मजदूर-कृषक वर्ग।

♦ जातिप्रथा

समाज में जातिप्रथा एवं अश्रुस्यता के साक्ष्य प्राप्त नहीं होते हैं।

♦ स्त्रियों की स्थिति

समाज पितृसत्तात्मक था। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को निम्न स्थान प्राप्त था। कन्या का जन्म अशुभ माना जाता था। स्त्रियों को सम्पत्ति में अधिकार प्राप्त नहीं था। विधवाओं की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। उन्हें आभूषणों का त्यागकर सिर मुड़वाना पड़ता था। सतीप्रथा तथा वेश्यावृत्ति का भी प्रचलन था, किन्तु उच्च कुल की स्त्रियां शिक्षा ग्रहण कर सकती थीं तथा सामाजिक अनुष्ठानों में भाग ले सकती थीं। राजा के अंगरक्षक के रूप में भी स्त्रियों की नियुक्ति की जाती थी। इस युग में विवाह को एक संस्कार माना जाता था और प्राचीन काल के समान ही 8 प्रकार के विवाह का प्रचलन था।

♦ दासों की स्थिति

संगम काल में दास प्रथा का प्रचलन नहीं था।

♦ शिक्षा

संगम युग में समाज के सभी वर्गों में शिक्षा का समुचित प्रचलन था, जो तत्कालीन युग की एक बहुत बड़ी विशेषता है। साहित्य, विज्ञान, ज्योतिष, गणित, व्याकरण आदि विषयों की शिक्षा दी जाती थी। मंदिर शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे तथा गुरुदक्षिणा देने की प्रथा का प्रचलन था।

♦ खान-पान एवं मनोरंजन के साधन

संगम युग में शाकाहारी एवं मांसाहार दोनों प्रकार के भोजन का प्रचलन था। शिकार खेलना, कुश्ती लड़ना, द्यूत, कविता, नाटक, नृत्य, संगीत आदि मनोरंजन के प्रमुख साधन थे।

□ धार्मिक स्थिति

संगम युग में वैदिक तथा ब्राह्मण धर्मों का समाज में प्रचार-प्रसार हुआ। जनश्रुति के अनुसार सर्वप्रथम ऋषि अगस्त ने सुदूर दक्षिण में ब्राह्मण धर्म का प्रचार किया। ब्राह्मण धर्म के साथ यज्ञों एवं कर्मकाण्डों का प्रचलन भी दक्षिण भारत में प्रारंभ हुआ। जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म का भी समाज में प्रचलन था।

इस समय मुख्य देवता थे - विष्णु, शिव, श्रीकृष्ण, बलराम, इन्द्र, मुरुगन आदि। 'मुरुगन' दक्षिण भारत का सबसे अधिक लोकप्रिय देवता था। कालान्तर में मुरुगन ही 'सुब्रह्मण्यम' कहा गया और कार्तिकेय से इस देवता का एकीकरण किया गया। तमिल प्रदेश में मुरुगन का प्रतीक 'मुर्गा' (कुक्कट) को माना गया है, जिसे पर्वत-शिखर पर क्रीड़ा करना पसन्द है। इसके अतिरिक्त वीर पूजा तथा सती पूजा भी की जाती थी। देवताओं की पूजा-अर्चना करने के लिए मंदिरों की भी व्यवस्था थी। मंदिरों के अतिरिक्त अधिकांशतः धार्मिक आयोजन खुले वृक्षों के नीचे किए जाते थे।

चोल साम्राज्य Chola Empire

सुदूर दक्षिण में 9वीं से 12वीं शताब्दी तक चोल वंश के शासकों ने एक विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की। चोल साम्राज्य दक्षिण भारत के साथ-साथ श्रीलंका एवं दक्षिणी-पूर्वी एशियाई देशों तक विस्तृत था। चोल प्रारंभ में कांची के पल्लव शासकों के सामंत थे।

चोल शासकों की उपलब्धियों को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत देखा जा सकता है -

□ सैन्य उपलब्धियां

850 ई. में विजयालय ने स्वतंत्र चोल राज्य की स्थापना की तथा मत्तरयारों से तंजौर (तमिलनाडु) जीतकर उसे अपनी राजधानी बनाई। आगे आदित्य प्रथम ने पल्लव वंश के अंतिम शासक अपराजित पल्लव की हत्या कर अपने साम्राज्य का विस्तार किया। इसी क्रम में परान्तक प्रथम ने पाण्ड्य शासकों से मदुरई छीन लिया, किन्तु 940 ई. में तक्कोलम के युद्ध में राष्ट्रकूट शासक कृष्ण तृतीय से पराजित हुआ। इस पराजय के उपरान्त चोलों की साम्राज्यवादी नीति को धक्का लगा।

985 ई. में जब राजराजा प्रथम ने राजगद्दी प्राप्त की, तो साम्राज्य विस्तार की प्रक्रिया पुनः प्रारंभ हो गई। राजराजा प्रथम ने अपने पड़ोसी चेर, पाण्ड्य, चालुक्य तथा कलिंग के गंग शासकों को पराजित किया। 1004 ई. से 1012 ई. तक राजराजा प्रथम ने नौ-सैनिक अभियान कर अनुराधापुर (श्रीलंका) के उत्तरी भाग पर अधिकार स्थापित कर लिया।

राजराजा प्रथम के उत्तराधिकारी राजेन्द्र प्रथम ने 1022-23 ई. में गंगा का अभियान कर महिपाल को पराजित किया तथा गंगेकॉडचोलपुरम की उपाधि धारण की। 1025 ई. में राजेन्द्र प्रथम ने दक्षिणी-पूर्वी एशिया के द्वीपों पर नौ-सैनिक अभियान कर विजयोत्तुंगवर्मन को भी पराजित करने में सफलता प्राप्त की। किन्तु इसके पश्चात् राजाधिराज प्रथम, राजेन्द्र द्वितीय, कुलोत्तुंग प्रथम, कुलोत्तुंग द्वितीय आदि चोल शासकों के शासनकाल में कोई विशेष सैनिक सफलता प्राप्त नहीं हुई। 1267 ई. में राजेन्द्र तृतीय की मृत्यु के साथ चोल वंश का इतिहास समाप्त हो गया।

चोल शासकों के पतन का मुख्य कारण निरंतर युद्ध एवं संघर्ष की स्थिति थी, जिसने राज्य के आर्थिक एवं सैनिक संसाधनों का हास किया। इसके अतिरिक्त परवर्ती चोल शासकों की कमजोरी तथा नवीन राज्यों, जैसे - पाण्ड्य एवं होयशल राज्य के उत्कर्ष ने भी चोल साम्राज्य को कमजोर बना दिया था।

□ राजनीतिक/प्रशासन जीवन

चोलों ने एक विशिष्ट प्रशासनिक संरचना का निर्माण किया, जिसमें केन्द्रीकरण के साथ ही स्थानीय स्वायत्ता थी। यह स्थानीय स्वायत्ता चोल प्रशासन का मुख्य अभिलक्षण बन गई।

♦ स्वरूप

चोल शासन व्यवस्था का स्वरूप राजतंत्रतात्मक था। राजा का पद वंशानुगत होता था। राजा के पद का दैवीकरण भी था। चोल राजाओं एवं रानियों की मूर्तियां मंदिरों में स्थापित कर उनकी पूजा की जाती थीं। यह तथ्य राजा की शक्ति और प्रतिष्ठा का द्योतक है, फिर भी राजा निरंकुश न होकर प्रजा हितैषी था।

♦ केन्द्रीय प्रशासन

केन्द्रीय प्रशासन का सर्वोच्च अधिकारी राजा होता था। राजा को सहायता व सलाह देने के लिए केन्द्रीय अधिकारियों की कई श्रेणियां होती थीं। उच्च श्रेणी के अधिकारियों को 'पेरुन्दनम्' तथा निम्न श्रेणी के अधिकारियों को 'शिरुन्दनम्' कहा जाता था। अधिकारियों को प्रायः नकद वेतन नहीं, बल्कि भूमिखण्ड (जीवित) दिए जाते थे।

♦ प्रांतीय प्रशासन

चोल साम्राज्य को अनेक प्रांतों में विभक्त किया गया था, जिसे मण्डलम् कहा जाता है। मण्डल का प्रमुख अधिकारी प्रायः राजपरिवार से ही संबंधित होता था। मण्डलम् का विभाजन वलनाडु (कोट्टम) तथा वलनाडु का विभाजन नाडु (जिला) में होता था। नाडु में नाट्टार नामक सभा होती थी, जिसमें सभी गांवों व नगरों के प्रतिनिधि भाग लेते थे। इसका मुख्यकार्य भू-राजस्व का प्रबंधन करना था। नाडु का विभाजन कुर्रम् (ग्राम समूह) में तथा कुर्रम का विभाजन ग्राम में होता था। इस प्रकार प्रशासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम थी, जिसका प्रशासन ग्रामसभा के द्वारा किया जाता था।

चोल साम्राज्य में नगरों का प्रशासन नगरम नामक संस्था के द्वारा संचालित होता था। नगरम मुख्यतः व्यापारियों से संबंधी सभा थी, जिसका प्रमुख कार्य व्यापारिक कर की दरों का निर्धारण एवं वसूली करना था।

♦ ग्रामीण प्रशासन/स्थानीय स्व-शासन

चोल प्रशासन की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता ग्रामीण स्तर पर स्थानीय स्व-शासन की व्यवस्था थी। स्थानीय स्व-शासन की परम्परा पाण्ड्य-पल्लव काल में विकसित हुई थी तथा चोल काल तक इसका पूर्ण विकास हो चुका था। चोल साम्राज्य में मुख्यतः 3 प्रकार के गांव होते थे – सामान्य गांव, ब्रह्मादेय (ब्राह्मणों को अनुदान में दिए गए गांव) एवं देवदान (मंदिरों को अनुदान में दिए गांव)।

ग्रामीण स्तर पर प्रशासन ग्रामसभा द्वारा संचालित किया जाता था। ये ग्रामसभाएं 3 प्रकार की होती थीं – उर, सभा एवं महासभा।

इन ग्रामसभाओं के क्रिया-कलापों की जानकारी परान्तक द्वितीय (सुन्दर चोल) के उत्तरमेरू अभिलेख से प्राप्त होती है। इससे ज्ञात होता है कि सामान्य गांव (जहां सभी जाति-समुदाय के लोग निवास करते थे) में उर नामक संस्था होती थी। सभी पुरुष ग्रामवासी इसके सदस्य होते थे। उर के प्रमुख कार्य – कर वसूल करना, तालाब एवं वाटिकाओं का निर्माण करना आदि थे। जबकि ब्रह्मादेय एवं देवदान गांवों में सभा या महासभा नामक संस्था होती थी। सभा या महासभा में कुल 30 सदस्य होते थे, जिन्हें निर्वाचन द्वारा चुना जाता था। निर्वाचन में भाग लेने वाले सदस्यों की कुछ योग्यताएं एवं अयोग्यताएं भी निश्चित थीं, जैसे –

योग्यताएं – गांव का स्थायी निवासी हो, आयु 35 से 70 वर्ष के मध्य हो, कम से कम 1/4 वेलि (डेढ़ एकड़) भूमि का स्वामित्व हो, स्वयं की भूमि पर भवन हो, वैदिक मंत्रों का ज्ञाता हो आदि।

अयोग्यताएं – लगातार 3 वर्षों तक किसी समिति का सदस्य न रहा हो, आय-व्यय का हिसाब न दिया हो, चोरी या उससे बड़े अपराधों का दोषी हो, शूद्र द्वारा पतित हुआ हो आदि।

निर्वाचन – ऐसी योग्यताओं को धारण करने वाले व्यक्तियों के नाम अलग-अलग ताड़-पत्रों में लिखकर किसी बड़े पात्र में डाल दिए जाते थे। तत्पश्चात् उसे अच्छी तरह मिलाकर एक अबोध बालक द्वारा 30 सदस्यों को चुना जाता था। इस प्रकार निर्वाचित 30 व्यक्ति विभिन्न समितियों के माध्यम से कार्य करते थे।

समितियां – सम्बत्सरवारियम् (12 सदस्यीय वार्षिक समिति), तोट्टावारियम् (6 सदस्यीय उपवन समिति), ऐनवारियम् (6 सदस्यीय सिंचाई समिति), पोनवारियम् (स्वर्ण समिति) आदि।

इन समितियों में सदस्यों की संख्या को आवश्यकतानुसार बढ़ाया या घटाया जा सकता था। सामान्यतः सदस्यों की कार्यावधि 3 वर्ष होती थी।

कार्य – सभा या महासभा के प्रमुख कार्य भू-राजस्व निश्चित व वसूल करना, कृषि योग्य भूमि का विस्तार करना, पेयजल, सिंचाई, आवागमन के साधन, मंदिर, शिक्षण संस्थाओं आदि का निर्माण व प्रबंध करना, न्यायपालिका तथा बैंकों की भूमिका निभाना, ग्रामवासियों के स्वास्थ्य, जीवन व संपत्ति की रक्षा करना आदि थे।

बैठक – सभा या महासभा की बैठक गांवों के मंदिरों में या किसी पेड़ के नीचे होती थी। बैठक की तिथि, समय एवं स्थान की सूचना ढोल पीटकर दी जाती है। इस प्रकार प्रशासन में पारदर्शिता लाने का प्रबंध किया गया था।

इस प्रकार चोलों की स्थानीय स्व-शासन की प्रणाली अद्वितीय थी। चोलों जैसे साम्राज्यवादी शासकों द्वारा ग्रामीण स्तर में न्यूनतम हस्तक्षेप कर स्थानीय स्व-शासन प्रदान करना एक विलक्षण बात थी। परन्तु स्थानीय स्व-शासन की कुछ सीमाएं भी थीं, जिन्हें निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत देखा जा सकता है –

- 1) सदस्यों से संबंधित आर्हताएं, जैसे – भूमि की निश्चित मात्रा का होना, वेदों का ज्ञान होना, उच्च वर्ण का होना आदि जनतांत्रिक पद्धति पर गठित सभा की नहीं, बल्कि एक प्रकार की कुलिन सभा की ओर संकेत करती है।
- 2) लाटरी पद्धति से सदस्यों का निर्वाचन का तात्पर्य है कि जनता को मतदान का अधिकार प्राप्त नहीं था।
- 3) उर नामक संस्था में केवल पुरुष सदस्यों की ही नियुक्ति की जाती थी, महिलाओं की नहीं।

इन सीमाओं के बावजूद तात्कालीन युद्ध एवं अविश्वास के उस युग में स्थानीय स्व-शासन की यह व्यवस्था अनुपम थी। इसका महत्व इस तथ्य से भी स्पष्ट होता है कि भारतीय संविधान में 73वें एवं 74वें संशोधन के द्वारा ग्रामीण एवं नगरीय क्षेत्रों में स्थानीय स्व-शासन संबंधी प्रावधान किए गए।

♦ न्यायिक प्रशासन

न्याय व्यावस्था का सर्वोच्च अधिकारी राजा होता था। सम्राट के न्यायालय को धर्मासन कहा जाता था। मृत्युदण्ड सहित कठोर दण्डविधान लागू थे।

♦ सैन्य प्रशासन

चोलों ने एक विशाल सेना का निर्माण किया। उनके पास अश्व, गज एवं पैदल सैनिकों के साथ एक शक्तिशाली नौ-सेना भी थी। सैनिकों को प्रायः नकद वेतन के बदले भूमिदान देने की प्रथा थी।

♦ राजस्व प्रशासन

राजकीय आय का प्रमुख साधन भूमिकर था, जो उपज का 1/3 होता था। चोल शासकों ने भूमि की माप कराकर भू-राजस्व का निर्धारण किया। भू-राजस्व नकद या द्रव्य के रूप में लिया जाता था। कर अदा न कर पाने की स्थिति में ग्रामसभा उसकी संपत्ति को नीलाम कर देती थी।

इस प्रकार चोलकालीन प्रशासन अनेक विशेषताओं को धारण किए हुए था। इसकी सबसे प्रमुख विशेषता ग्रामीण स्तर पर स्थानीय स्व-शासन का अधिकार था। आगे चोल प्रशासन की अनेक विशेषताओं ने विजयनगर की प्रशासनिक संरचना को भी प्रभावित किया।

□ धार्मिक जीवन

चोल काल में दक्षिण भारत में शैव एवं वैष्णव धर्मों का अत्यधिक प्रचार-प्रसार हुआ। इन धर्मों के प्रचार में 12 अलवार (वैष्णव) संतों तथा 63 नयनार (शैव) संतों की महत्वपूर्ण भूमिका थी। चोल शासकों ने शैव धर्म को राजकीय संरक्षण दिया। आदित्य प्रथम ने कावेरी नदी के दोनों तटों पर कई शिव मंदिरों का, राजाराम प्रथम ने तंजौर स्थित वृहदश्वर मंदिर का तथा राजेन्द्र प्रथम ने गंगैकोण्डचोलपुरम् के शिव मंदिर का निर्माण करवाया था।

इस काल में वैष्णव धर्म का भी प्रचार-प्रसार हुआ। वैष्णव धर्म को लोकप्रिय बनाने में नाथमुनि (अलवार संत), यमुनाचार्य एवं रामानुजाचार्य ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन दोनों धर्मों के अतिरिक्त चोल शासकों ने अन्य धर्मों के प्रति भी सहिष्णुता की नीति अपनाई।

□ सांस्कृतिक जीवन

चोल शासकों के संरक्षण में मंदिर निर्माण की द्रविड़ शैली का विकास हुआ। यद्यपि द्रविड़ शैली के आरंभिक लक्षण पल्लव काल में ही प्रकट हो गए थे, किन्तु इसे परिपक्व रूप चोल काल में मिला। इस शैली में निर्मित मंदिरों के 4 प्रमुख अंग थे - विशाल गोपुरम्, पिरामिडाकार विमान (जिसका ऊपरी भाग गोलाकार होता था), मण्डप तथा गर्भगृह। द्रविड़ शैली के 2 उत्कृष्ट उदाहरण - तंजौर स्थित राजराजेश्वर (वृहदश्वर) मंदिर तथा उसी के पास स्थित गंगैकोण्डचोलपुरम् का मंदिर है। इन दोनों स्मारकों से सिद्ध होता है कि चोल काल में वास्तुकला चर्मोत्कर्ष पर थी। मंदिर स्थापत्य की अद्वितीय कलाशैली को देखकर ही फर्ग्यूसन ने कहा है कि 'चोल कलाकारों ने दैत्यों के समान कल्पना की और जौहरियों के समान इसे पूरा किया।'

इस काल में आकर्षक एवं उत्कृष्ट कांस्य मूर्तियों का निर्माण भी हुआ, जिनमें सर्वप्रमुख नटराज की प्रतिमा है। साथ ही चोल शासकों ने चित्रकला को भी प्रश्रय दिया। वृहदश्वर मंदिर की दीवारों पर शिव की विविध लीलाओं से संबंधित चित्रकारी मिलती है।

चोल काल में तमिल साहित्य का भी अभूतपूर्व विकास हुआ। तमिल भाषा के विकास में अलवार व नयनार संतों तथा पुगलेंदी, कल्लादनार व कुट्टन जैसे कवियों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस काल में कई संस्कृत रचनाओं का भी तमिल भाषा में अनुवाद हुआ। उदाहरणार्थ - कम्बन द्वारा रामायण का तथा पुगलेंदी द्वारा नलदमयंती का तमिल भाषा में अनुवाद किया गया।

इस प्रकार चोल शासकों ने न केवल एक विस्तृत साम्राज्य स्थापित किया, बल्कि सक्षम प्रशासनिक व्यवस्था भी स्थापित की। इसके अतिरिक्त मंदिर स्थापत्य निर्माण में एवं तमिल साहित्य के विकास में भी चोल शासकों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया।

पल्लव काल

(550-903 ई.)

पल्लवों का मूल निवास स्थान तोण्डैमंडलम् (तमिलनाडु) था। पल्लव सातवाहनों के सामन्त थे। आगे उन्होंने नागवंशीय शासकों से कांची (तमिलनाडु) को जीतकर उसे अपनी राजधानी बनाई।

पल्लव वंश का संस्थापक **सिंहविष्णु** था। सिंहविष्णु वैष्णव मतानुयायी था, उसकी राज्यसभा में किरातार्जुनीयन के लेखक भारवी का निवास था। सिंहविष्णु का उत्तराधिकारी **महेन्द्रवर्मन प्रथम** हुआ, जिसके समय से पल्लव-चालुक्य संघर्ष प्रारंभ हो गया। महेन्द्रवर्मन ने मत्तविलासप्रहसन की रचना की थी तथा शैव संत अप्पार से प्रभावित होकर जैन धर्म का परित्याग कर शैवमत ग्रहण किया था। महेन्द्रवर्मन प्रथम का उत्तराधिकारी **नरसिंहवर्मन प्रथम** हुआ, जिसे महामल्ल भी कहा जाता है। नरसिंहवर्मन प्रथम ने चालुक्य शासक पुलकेशिन द्वितीय को पराजित कर वातापीकोंड की उपाधि धारण की थी। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने उसके काल में कांची की यात्रा की थी। महाबलीपुरम के एकाशमक मंदिरों का निर्माण भी उसी के काल में हुआ था। उसका उत्तराधिकारी **नरसिंहवर्मन द्वितीय** हुआ, जिसे राजसिंह के नाम से भी जाना जाता है। उसकी राज्यसभा में दशकुमारचरित के लेखक दण्डि का निवास था। उसके काल में कांची के कैलाशनाथ मंदिर तथा महाबलीपुरम के तटीय (शोर) मंदिर का निर्माण हुआ था। इसी क्रम में पल्लव वंश का अंतिम शासक **अपराजितवर्मन** था, जिसे पराजित कर आदित्य प्रथम ने चोल वंश की स्थापना की।

पल्लव संस्कृति

□ धर्म

पल्लव शासकों के काल में नयनार (शैव) तथा अलवार (वैष्णव) संतों के द्वारा भक्ति आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। नयनार संतों की संख्या 63 थी, जिनमें अप्पार, तिरुञ्जान, सम्बन्दर, सुन्दरमूर्ति, मणिकवाचगर आदि प्रमुख थे। उसी प्रकार अलवार संतों की संख्या 12 थी, जिनमें भूतयोगी, महायोगी, भक्तिसार, मधुरकवि, कुलशेखर, तिरुमंगई, आण्डाल (एकमात्र महिला) आदि प्रमुख थे।

दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन 6ठी सदी ई. से प्रारंभ होकर 9वीं सदी ई. तक चलता रहा। इस आन्दोलन के फलस्वरूप पल्लव शासकों ने शैव एवं वैष्णव धर्म को ग्रहण किया तथा शिव एवं विष्णु के सम्मान में अनेक मंदिरों व मूर्तियों का निर्माण करवाया। इस प्रकार पल्लव शासक ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे, किन्तु उन्होंने अन्य धर्मों के साथ भी सहिष्णुता की नीति अपनाई। पल्लव काल में बौद्धों व जैनियों पर किसी भी प्रकार के अत्याचार नहीं किए गए। कांची यात्रा के दौरान ह्वेनसांग ने उल्लेख किया है कि यहां 100 से अधिक बौद्ध विहार थे, जहां रहने वाले 10,000 से अधिक बौद्ध भिक्षुओं को राज्य द्वारा सुविधाएं प्रदान की गई थीं।

□ साहित्य

पल्लव शासकों का काल संस्कृत तथा तमिल साहित्य की उन्नति का काल था। पल्लव शासकों ने न केवल अपने दरबार में विद्वानों को संरक्षण प्रदान किया, बल्कि वे स्वयं भी प्रसिद्ध विद्वान व लेखक थे। महेन्द्रवर्मन प्रथम ने मत्तविलासप्रहसन नामक ग्रंथ की रचना की, जिसमें कापालिकों एवं बौद्ध भिक्षुओं की हंसी उड़ाई गई है। पल्लव शासकों के दरबार में भारवी एवं दण्डि जैसे महान विद्वान भी हुए, जिन्होंने क्रमशः किरातार्जुनीयन एवं दशकुमारचरित की रचना की थी। इसी काल में नयनार एवं अलवार संतों के द्वारा दक्षिण भारत में तमिल साहित्य का प्रचार-प्रसार हुआ। पल्लवों की राजधानी कांची विद्या का प्रमुख केन्द्र थी, जहां एक संस्कृत महाविद्यालय था।

□ कला तथा स्थापत्य

पल्लव शासकों का शासनकाल कला एवं स्थापत्य की उन्नति के लिए प्रसिद्ध है। पल्लव वास्तु कला मंदिर निर्माण की द्रविड़ कला शैली का आधार बनी। उसी से दक्षिण भारतीय स्थापत्य के 3 प्रमुख अंगों का जन्म हुआ - मण्डप, रथ तथा विशाल मंदिर। प्रसिद्ध कलाविद् पर्सी ब्राउन ने पल्लव वास्तुकला के विकास की शैलियों को 4 भागों में विभक्त किया है -

◆ महेन्द्र शैली (610-640 ई.)

पल्लव वास्तु कला का प्रारंभ महेन्द्रवर्मन प्रथम के समय से हुआ। इसके काल में ईंट, लकड़ी, लोहा, चूना आदि के प्रयोग के बिना गुहा मंदिरों का निर्माण किया गया। मुख्यतः तोण्डमण्डलम् की प्राकृतिक शिलाओं को उत्कीर्ण कर मंदिर बनाए गए, जिन्हें मण्डप कहा जाता है। ये मण्डप साधारण स्तम्भयुक्त बरामदें हैं, जिनकी पिछली दीवार में एक या अधिक कक्ष बनाए गए हैं। इनके पार्श्व भाग में

गर्भगृह रहता है। शैव मण्डप के गर्भगृह में लिंग तथा वैष्णव मण्डप के गर्भगृह में विष्णु प्रतिमा स्थापित रहती थी। मण्डप के बाहर बने मुख्य द्वार पर द्वारपालों की मूर्तियां मिलती हैं, जो कलात्मक दृष्टि से उच्चकोटि की हैं।

महेन्द्र शैली के मण्डपों में मण्डगपट्टु का त्रिमूर्ति मण्डप, पल्लवरम का पंचपाण्डव मण्डप, महेन्द्रवाडी का महेन्द्रविष्णु गृहमण्डप, आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस शैली के प्रारंभिक मण्डप सादे तथा अलंकरणरहित हैं, किन्तु बाद के मण्डपों को अलंकृत करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। महेन्द्रवर्मन प्रथम के बाद भी कुछ समय तक इस शैली का विकास होता रहा।

♦ मामल्ल शैली (640-674 ई.)

इस शैली का विकास नरसिंहवर्मन प्रथम (मामल्ल) के काल में हुआ। इसके अन्तर्गत 2 प्रकार के स्मारक बने - मण्डप तथा एकाशमक मंदिर। एकाशमक मंदिर को रथ भी कहते हैं। इस शैली में निर्मित सभी स्तारक मामल्लपुरम (महाबलीपुरम) में विद्यमान हैं।

महाबलीपुरम स्थित मुख्य पर्वत पर 10 मण्डप बनाए गए हैं, जिनमें आदिवाराह मण्डप, महिषमर्दिनी मण्डप, पंचपाण्डव मण्डप, रामानुज मण्डप आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। इन्हें विविध प्रकार से अलंकृत किया गया है। मण्डप अपनी मूर्तिकारी के लिए प्रसिद्ध है। इनमें उत्कीर्ण महिषमर्दिनी, अनन्तशायी विष्णु, ब्रह्मा, गजलक्ष्मी, हरिहर आदि की मूर्तियां कलात्मक दृष्टि से उत्कृष्ट हैं।

मामल्लशैली की दूसरी रचना रथ अथवा एकाशमक मंदिर है। पल्लव वास्तुकारों ने प्राकृतिक चट्टानों को काटकर जिन एकाशम पूजागृहों की रचना की, उन्हीं को रथ कहा जाता है। इन्हें देखने से पता चलता है कि शिला के अनावश्यक भाग को अलग कर अपेक्षित स्वरूप को ऊपर से नीचे की ओर उत्कीर्ण किया जाता था। रथ मंदिरों का आकार-प्रकार अन्य कृतियों की अपेक्षा छोटा है। प्रमुख रथ हैं - द्रोपदी रथ, नकुल-सहदेव रथ, अर्जुन रथ, भीम रथ, धर्मराज रथ, गणेश रथ, पिडारि (ग्राम्य-देवी) रथ तथा वलैयंकुट्टै रथ। इन्हें सम्मिलित रूप से सप्त पगोड़ा भी कहा जाता है। ये सभी शैव मंदिर प्रतीत होते हैं। द्रोपदी रथ सबसे छोटा है, जबकि धर्मराज रथ सबसे अधिक प्रसिद्ध है। मामल्ल शैली के रथ अपनी मूर्तिकला के लिए भी प्रसिद्ध है। नकुल-सहदेव रथ के अतिरिक्त अन्य सभी रथों पर विभिन्न देवी-देवताओं, जैसे - दुर्गा, इन्द्र, शिव, गंगा, पार्वती, हरिहर, ब्रह्मा, स्कन्द आदि की मूर्तियां उत्कीर्ण मिलती हैं।

♦ राजसिंह शैली (674-800 ई.)

इस शैली का विकास नरसिंहवर्मन द्वितीय (राजसिंह) के काल में हुआ। राजसिंह शैली में गुहा मंदिरों के स्थान पर पाषाण, ईंट आदि की सहायता से इमारती मंदिरों का निर्माण करवाया गया। इस शैली के मंदिरों में महाबलीपुरम स्थित तटीय (शोर) मंदिर तथा कांची स्थित कैलाशनाथ एवं बैकुण्ठपेरूमाल मंदिर प्रमुख हैं।

महाबलीपुरम स्थित तटीय मंदिर एक शिव मंदिर है। इसका शिखर सीढ़ीदार है तथा मंदिर की दीवारों पर विभिन्न देवी-देवताओं की मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। कांची स्थित कैलाशनाथ मंदिर राजसिंह शैली के चरम उत्कर्ष को व्यक्त करता है। इसका निर्माण नरसिंहवर्मन द्वितीय के समय से प्रारंभ हुआ तथा उसके उत्तराधिकारी महेन्द्रवर्मन द्वितीय के समय में पूर्ण हुआ। द्रविड़ शैली की सभी विशेषताएं, जैसे - प्रांगण, गोपुरम, स्तम्भयुक्त मण्डप, विमान आदि इस मंदिर में एक साथ प्राप्त हो जाती हैं। इसके निर्माण में ग्रेनाइट तथा बलुआ पत्थरों का उपयोग किया गया है। कैलाशनाथ मंदिर के कुछ बाद का बना बैकुण्ठपेरूमाल के मंदिर का निर्माण परमेश्वरवर्मन द्वितीय के समय में हुआ था। यह भगवान विष्णु का मंदिर है, जिसमें प्रदक्षिणापथयुक्त गर्भगृह एवं सोपानयुक्त मण्डप हैं।

♦ नन्दिवर्मन शैली (800-900 ई.)

इस शैली के अन्तर्गत अपेक्षाकृत छोटे मंदिरों का निर्माण हुआ, जिनमें प्रमुख हैं - कांची स्थित मुक्तेश्वर एवं मातंगेश्वर मंदिर। इस शैली में निर्मित मंदिरों में स्तम्भयुक्त मण्डप, वृत्ताकार शिखर प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार पल्लव राजाओं का शासनकाल कला एवं स्थापत्य की उन्नति के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध रहा। पल्लव कला का प्रभाव कालान्तर में चोल तथा पाण्ड्य कला पर पड़ा तथा यह दक्षिण पूर्व एशिया में भी पहुंची। इस काल की कुछ कलात्मक कृतियां आज भी अपने निर्माताओं की महानता का संदेश दे रही हैं।